शिवदृष्टिः

आचार्यकृष्णानन्दसागरः

JACL-KRC
005333

5-3-93

केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जयपुर

पुस्तकालय

वर्गीकरण सं०..............

पुस्तक सं०.................... दिनाङ्क..............

यह पुस्तक नीचे अङ्कित तिथि या उससे पूर्व लौटा दी जानी चाहिये। यदि पुस्तक निर्धारित तिथि से अधिक समय तक पाठक अपने पास रखेंगे तो 5 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब शुल्क देय होगा।

Chaukhamba Sanskrit Pratishthan
38 U, A. Jawaharnagar, Bunglow Road
Delhi-110007

SV-2024

9·2R

5333

केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जयपुर

पुस्तकालय

पुस्तक संख्या.......................................

वर्गीकरण संख्या.......................................

Chaukhamba Sanskrit Pratishthan

शिवदृष्टिः
SHIVADRISHTI

Shri Shivoham Sagar Granthmala's Eighth Puspa–

SHRI SOMANANDAPADA'S

SHIVADRISHTI

with the VRITTI

by

Shri Utpaldevacharya

& with Notes

Shri Madhu Sudan Kaul

Published by

Sarvadarshnacharya

Shri Krishnanand Sagar

Edited with Introduction

Under Direction from

1008 Mahamandaleshwar

Shri Swami Akhandanand Sagar Maharaj

श्रीशिवोऽहंसागरग्रन्थमालाया अष्टमं पुष्पम्–

महामाहेश्वराचार्य-श्रीसोमानन्दपादविरचिता

शिवदृष्टिः

श्रीमदुत्पलदेवाचार्यकृतवृत्त्युपेता

श्रीमधुसूदनशास्त्रिकृतटिप्पणसमलङ्कृता च

अनन्तश्रीविभूषित १००८ महामण्डलेश्वर-

श्रीमदखण्डानन्दसागरमहाराजानां

निदेशेन

सर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरेण

भूमिकया सह सम्पाद्य

प्रकाशिता

Published by

PRTYABHIGYAN PRAKASHAN

for

Acharya Krishnanand Sagar

B. 37/48-A-1-2, Birdopur

VARANASI-221010

&

Shri Madhvanand Ashram

P. O.-Dharmaj : Distt -Kheda

GUJARAT.

All right riserved by the publisher

First Edition

1985

Price Rs. : 75/-

We Certified That The Price of
Book charged according to Publisher's Price
For Chaukhamsha Sanskrit Pratishthan

JACL-KRC
005333

Printed by

JYOTI PRESS

Madhyameshwar, Varanasi.

भूमिका

श्रीसोमानन्दप्रभुपाद द्वारा विरचित इस 'शिवदृष्टिः' नामक प्रस्तुत ग्रन्थरत्न में सात आह्निक हैं और कुल ७२१ श्लोक अनुष्टुप छन्द में विद्यमान हैं।

प्रथम आह्निक में स्वात्मस्वरूप परमशिव के प्रति नमस्कार के अनन्तर **'आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः। अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः'** ॥ १-२ ॥

एक ही श्लोक में सूत्ररूप से समस्त शास्त्रार्थ का सयुक्तिक प्रतिपादन कर, परमशिवदशा से लेकर घट-पटादि पर्यन्त शिवरूपता की स्थिति का उल्लेख किया गया है। परमशिवतत्त्व का स्वरूप, उसका विश्वोत्तोर्णदशा में भी विश्वात्मक रूप से अवस्थान, शैवकारणवाद एवं सृष्टिप्रक्रिया आदि का विवेचन किया गया है।

द्वितोय आह्निक में ईश्वर अद्वयवाद ही युक्तियुक्त अनुभवसिद्ध है। वैयाकरणों के शब्दाद्वैत का स्वरूप कथन और उसका युक्तिपूर्वक निराकरण किया है तथा इसमें विवर्तवाद का खण्डन किया गया है एवं भर्तृहरि की पश्यन्ती को परा मानने का खण्डन है।

तृतोय आह्निक में भट्ट प्रद्युम्न द्वारा स्वीकृत शाक्तवाद, शिवाद्वयवाद के प्रतिपक्षी द्वैतवादो शैव और पातञ्जल मत के अनुयायियों के सहित एक्कीस मत-मतान्तरों का दोषोद्भावनपूर्वक खण्डन एवं अपने शैव अद्वैत सिद्धान्त का युक्तिपूर्वक मण्डन किया है।

चतुर्थ आह्निक में अन्य दर्शनों की प्रत्यभिज्ञादर्शन के विषय में संभावित शङ्काओं का निराकरण कर **'अथेदानीं प्रवक्तव्यं यथा सर्वं शिवात्मकम्'**। इत्यादि पद्यों से परमशिव की सर्वरूपता का विवेचन करते हुए शैवसिद्धान्त के मूलभूत तत्त्व तथा शैव सर्वेश्वरवाद को दिखाया है यह सारा विश्व प्रपञ्च का विस्तार शिव द्वारा ही आभासित होता है।

पञ्चम आह्निक में **'अथ चेत् सर्वभावानां न विना तत्त्वमेककम्। समन्वयोऽस्ति तदिदं कथमैक्यं विभेदितम्'** ॥ ५-१ ॥ इत्यादि श्लोकों द्वारा एक परमतत्त्व प्रमाता हो समस्त वेद्यवस्तुओं में 'सूत्रे मणिगणा इव' अनुस्यूत है एवं सर्वेश्वरवाद का ही विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

षष्ठ आह्निक में वेदान्त, पाञ्चरात्र, जैन, सांख्य, न्याय, वैशेषिक और बौद्ध आदि दर्शनों की परसत्तासम्बन्धी सिद्धान्तों को अनुपयुक्तता दिखायी है। इस प्रकार कुछ ज्ञात एवं कुछ अज्ञात कालकारणिक और सद्घामवादी सम्प्रदायों का उल्लेख करते हुए खण्डन किया है। इस प्रकार शैव द्वैतवाद एवं द्वैताद्वैतवाद का खण्डन है।

सप्तम आह्निक में मोक्ष-साधक तान्त्रिक सिद्धान्त, साधन और शैवयोग को दिखाते हुए सभी भाव-पदार्थों में व्याप्त परमशिवतत्त्व की प्रतिपत्ति का रहस्य एवं उससे उपलब्ध होने वाली सर्वनिर्भरा चिदानन्ददशा तथा पूर्ववर्त्ती शैवदर्शन के आचार्यों की वंश-परम्परा का वर्णन है। जैसा कि इन्होंने कहा है—

'करोमि स्म प्रकरणं शिवदृष्टयभिधानकम्। (७-१२१)

इन्होंने जिन मौलिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत ग्रन्थ में रत्नवत् गूँथे हैं, वे सब शिवसमाविष्ट होकर ही किये हैं। इसका प्रणयन नवम शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ है।

'शिवदृष्टि:' पर श्री उत्पलदेव कृत वृत्ति चतुर्थ आह्निक के ७४ श्लोक पर्यन्त ही उपलब्ध है। आगे की वृत्ति उपलब्ध न होने से प्रकाशित नहीं की जाती है।

किन्तु वर्तमान प्रकाशित 'शिवदृष्टि:' में पूर्ववत् कश्मीर ग्रन्थावली के प्रसिद्ध संपादक श्री मधुसूदन कौल शास्त्री की विशिष्ट टिप्पणियों का भी समावेश किया गया है।

शिवसूत्र, स्पन्दकारिका आदि ग्रन्थों में शैवदर्शन का मौलिक सिद्धान्त निरूपित किये गये हैं। श्री सोमानन्दप्रभुपाद ने प्रौढ दार्शनिक स्वरूप देने के लिये प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का एक नूतन निर्माण किया है। पूर्ववर्त्ती शास्त्रीय पक्षों का दोषोद्भावन के साथ खण्डन-मण्डन कर शैवाद्वैत सिद्धान्त की दार्शनिक तर्कों द्वारा स्थापना 'शिवदृष्टि:' आदि ग्रन्थों में देखी जाती है।

दुर्वासामुनि से लेकर श्रीसोमानन्दपाद पर्यन्त शैवदर्शन का अध्ययन-अध्यापन कार्य मौखिक और वंशपरम्परागत ही सीमित रहा है। किन्तु इन्होंने इस शैवागम दर्शन की धारा को एक नूतन दिशा में मोड़ दिया और वह नूतन धारा आज भी विश्व में प्रत्यभिज्ञादर्शन के रूप में

प्रवाहित होकर मुमुक्षुजनों को स्वरूपदर्शन कराती हुई आप्लावित कर रही है। श्रीसोमानन्दपाद ने शैवदर्शन के मुख्य सिद्धान्तों को दार्शनिक शैली में प्रतिपादन कर सर्वप्रथम 'शिवदृष्टिः' इस प्रस्तुत ग्रन्थरत्न का सूत्रपात किया है।

साम्प्रदायिक जनश्रुति के अनुसार श्रीवसुगुप्तपाद श्रीसोमानन्दपाद के गुरु थे। यह श्रीअभिनवगुप्तपाद ने क्रमकेलि की व्याख्या में श्रीसोमानन्दपाद को श्रीगोविन्दराज का शिष्य दिखाया है। श्री-गोविन्दराज को क्रमदर्शन का उपदेश उत्तरपीठाधीश्वर श्री शिवानन्दनाथ की शिष्या पीठेश्वरी 'श्रीकेयूरवती' से प्राप्त हुआ है। श्रीअभिनवगुप्तपाद क्रमदर्शन में श्रीगोविन्दराज के सब्रह्मचारी श्रीभानुक की शिष्या पीठेश्वरी श्रीमदनिका की शिष्य परम्परा सन्तति में गिने जाते हैं। यह सब वृत्तान्त तन्त्रालोक (४-१७३) की व्याख्या में जयरथ द्वारा उद्धृत अभिनवगुप्तपाद विरचित क्रमकेलि व्याख्या के सन्दर्भ से अवगत होता है।

श्री सोमानन्दपाद के प्रमुख शिष्य श्री उत्पलदेव थे। अपनी तर्कपूर्ण शैली से मौलिक ग्रन्थों के निर्माण द्वारा इस दर्शन के साहित्य संवर्धन प्रणाली को बृहत् रूप दिया है। इन्होंने शैवदर्शन पर स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ लिखे और पूर्ववर्त्ती आचार्यों की मौलिक कृतियों पर वृत्तियाँ लिखी हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ पर वृत्ति लिख कर प्रत्यभिज्ञादर्शन का व्यापक विस्तार किया है। इसी शिवदृष्टिः के आधार पर ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, सिद्धित्रयी, शिवस्तोत्रावली आदि ग्रन्थों का निर्माण किया है और इन पर व्याख्याएँ लिखी हैं। अत एव प्रत्यभिज्ञादर्शन की इस स्वतन्त्र विचार शैली को आज भी महापुरुषों ने विच्छिन्न होने नहीं दिया है और यह किसी भी उन्नतदेश के गौरव का कारण हो सकती है, इसलिये प्रत्यभिज्ञादर्शन का साहित्य उच्चकोटि का है और महत्त्वपूर्ण है।

विजयादशमी
२०४२

कृष्णानन्दसागरः

षष्ठ आह्निक में वेदान्त, पाञ्चरात्र, जैन, सांख्य, न्याय, वैशेषिक और बौद्ध आदि दर्शनों की परसत्तासम्बन्धी सिद्धान्तों को अनुपयुक्तता दिखायी है। इस प्रकार कुछ ज्ञात एवं कुछ अज्ञात कालकारणिक और सद्धामवादी सम्प्रदायों का उल्लेख करते हुए खण्डन किया है। इस प्रकार शैव द्वैतवाद एवं द्वैताद्वैतवाद का खण्डन है।

सप्तम आह्निक में मोक्ष-साधक तान्त्रिक सिद्धान्त, साधन और शैवयोग को दिखाते हुए सभी भाव-पदार्थों में व्याप्त परमशिवतत्त्व की प्रतिपत्ति का रहस्य एवं उससे उपलब्ध होने वाली सर्वनिर्भरा चिदानन्ददशा तथा पूर्ववर्त्ती शैवदर्शन के आचार्यों की वंश-परम्परा का वर्णन है। जैसा कि इन्होंने कहा है—

'करोमि स्म प्रकरणं शिवदृष्टचभिधानकम्। (७-१२१)

इन्होंने जिन मौलिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत ग्रन्थ में रत्नवत् गूँथे हैं, वे सब शिवसमाविष्ट होकर ही किये हैं। इसका प्रणयन नवम शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ है।

'शिवदृष्टिः' पर श्री उत्पलदेव कृत वृत्ति चतुर्थ आह्निक के ७४ श्लोक पर्यन्त ही उपलब्ध है। आगे की वृत्ति उपलब्ध न होने से प्रकाशित नहीं की जाती है।

किन्तु वर्तमान प्रकाशित 'शिवदृष्टिः' में पूर्ववत् कश्मीर ग्रन्थावली के प्रसिद्ध संपादक श्री मधुसूदन कौल शास्त्री की विशिष्ट टिप्पणियों का भी समावेश किया गया है।

शिवसूत्र, स्पन्दकारिका आदि ग्रन्थों में शैवदर्शन का मौलिक सिद्धान्त निरूपित किये गये हैं। श्री सोमानन्दप्रभुपाद ने प्रौढ दार्शनिक स्वरूप देने के लिये प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का एक नूतन निर्माण किया है। पूर्ववर्त्ती शास्त्रीय पक्षों का दोषोद्भावन के साथ खण्डन-मण्डन कर शैवाद्वैत सिद्धान्त की दार्शनिक तर्कों द्वारा स्थापना 'शिवदृष्टिः' आदि ग्रन्थों में देखी जाती है।

दुर्वासामुनि से लेकर श्रीसोमानन्दपाद पर्यन्त शैवदर्शन का अध्ययन-अध्यापन कार्य मौखिक और वंशपरम्परागत ही सीमित रहा है। किन्तु इन्होंने इस शैवागम दर्शन की धारा को एक नूतन दिशा में मोड़ दिया और वह नूतन धारा आज भी विश्व में प्रत्यभिज्ञादर्शन के रूप में

प्रवाहित होकर मुमुक्षुजनों को स्वरूपदर्शन कराती हुई आप्लावित कर रही है। श्रीसोमानन्दपाद ने शैवदर्शन के मुख्य सिद्धान्तों को दार्शनिक शैली में प्रतिपादन कर सर्वप्रथम 'शिवदृष्टिः' इस प्रस्तुत ग्रन्थरत्न का सूत्रपात किया है।

साम्प्रदायिक जनश्रुति के अनुसार श्रीवसुगुप्तपाद श्रीसोमानन्दपाद के गुरु थे। यह श्रीअभिनवगुप्तपाद ने क्रमकेलि की व्याख्या में श्रीसोमानन्दपाद को श्रीगोविन्दराज का शिष्य दिखाया है। श्रीगोविन्दराज को क्रमदर्शन का उपदेश उत्तरपीठाधीश्वर श्री शिवानन्दनाथ की शिष्या पीठेश्वरी 'श्रीकेयूरवती' से प्राप्त हुआ है। श्रीअभिनवगुप्तपाद क्रमदर्शन में श्रीगोविन्दराज के सब्रह्मचारी श्रीभानुक की शिष्या पीठेश्वरी श्रीमदनिका की शिष्य परम्परा सन्तति में गिने जाते हैं। यह सब वृत्तान्त तन्त्रालोक (४-१७३) की व्याख्या में जयरथ द्वारा उद्धृत अभिनवगुप्तपाद विरचित क्रमकेलि व्याख्या के सन्दर्भ से अवगत होता है।

श्री सोमानन्दपाद के प्रमुख शिष्य श्री उत्पलदेव थे। अपनी तर्कपूर्ण शैली से मौलिक ग्रन्थों के निर्माण द्वारा इस दर्शन के साहित्य संवर्धन प्रणाली को बृहत् रूप दिया है। इन्होंने शैवदर्शन पर स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ लिखे और पूर्ववर्त्ती आचार्यों की मौलिक कृतियों पर वृत्तियाँ लिखी हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ पर वृत्ति लिख कर प्रत्यभिज्ञादर्शन का व्यापक विस्तार किया है। इसी शिवदृष्टिः के आधार पर ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, सिद्धित्रयी, शिवस्तोत्रावली आदि ग्रन्थों का निर्माण किया है और इन पर व्याख्याएँ लिखी हैं। अत एव प्रत्यभिज्ञादर्शन की इस स्वतन्त्र विचार शैली को आज भी महापुरुषों ने विच्छिन्न होने नहीं दिया है और यह किसी भी उन्नतदेश के गौरव का कारण हो सकती है, इसलिये प्रत्यभिज्ञादर्शन का साहित्य उच्चकोटि का है और महत्त्वपूर्ण है।

विजयादशमी
२०४२

कृष्णानन्दसागर

निदेशिका

	पृष्ठ सख्या
प्रथम आह्निक	१
द्वितीय आह्निक	२६
तृतीय आह्निक	७२
चतुर्थ आह्निक	१०६
पञ्चम आह्निक	१४०
षष्ठ आह्निक	१४६
सप्तम आह्निक	१५६

ॐ सच्चिदानन्दाय नमः

अथ

शिवदृष्टिः

श्रीमत्सोमानन्दविरचिता

श्रीमहामाहेश्वरोत्पलदेवाचार्यविरचितवृत्त्योपेता

प्रथममाह्निकम्

चिदाकाशमये स्वाङ्गे विश्वालेख्यविधायिने ।
सर्वाद्भुतोद्भवभुवे नमो विषमचक्षुषे[1] ॥ १ ॥

---

१ विषमचक्षुषे इति—यद्वि प्रमाणप्रमेयलक्षणं विश्वं तद्भेदाभासेन मिथ्यैवेति नेत्रद्वितयेन द्योत्यते भगवता । परमार्थतस्तद्वत्तायामपि स्वात्मस्फुरत्तामात्ररूपत्वादस्य विश्वस्य न क्वापि भेदकलङ्कदोषकल्पनेति तृतीयनेत्रेण द्योत्यत इति । तच्च भगवत एवान्यस्य तु न भेदाधिष्ठातृत्वादिति । ततश्च तत्रैव नमस्कारो युक्तः, अन्यत्र तु किं फलमिति वाक्यार्थसमन्वयदीपिकायां निर्णीतमिति । तदेव समर्थयति 'स्वाङ्गे विश्वालेख्यविधायिने' इति । स्वाङ्ग इति न तु व्यतिरिक्ते क्वचन । यदुक्तं पूर्वगुरुणा—

'निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥' (स्त० चि० ५)

इति । भगवता वीरेण व्यासेनापि—

'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥' (भ० गी० १४।३)

इति । कालिकाकारविश्वचित्रेणापि नास्य स्वरूपान्यथाभाव इत्याकाशसाम्यं व्यतिरेकध्वनिश्च । निर्मित्तावेव चित्रविधानमिति महदाश्चर्यम् ।

विभ्रमाकरसंज्ञेन स्वपुत्रेणास्मि चोदितः ।
पद्मानन्दाभिधानेन तथा सब्रह्मचारिणा[1] ॥ २ ॥
ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तविस्तरे गुरुनिर्मिते ।
शिवदृष्टिप्रकरणे करोमि पदसंगतिम् ॥ ३ ॥

प्रकृतशास्त्रानुसारेणेष्टदेवतानमस्कारं[2] करोति शास्त्रकारः—

अस्मद्रूपसमाविष्टः स्वात्मनात्मनिवारणे ।
शिवः करोतु निजया नमः शक्त्या ततात्मने ॥ १ ॥

योऽहं नमस्करोमि स शिवोऽस्मद्रूपेणैक्यं प्राप्तः । वस्तुस्थित्या हि सर्वतत्त्वविग्रहो वक्ष्यमाणनीत्या शिवः । स[3] संसारार्थं मायाशक्तिकृतैक्याख्यात्या भावाननात्मस्थानाभासयति ईश्वरप्रत्यभिज्ञा प्रपञ्चितन्यायेन । ततस्तान्[4] प्राणादीन् पुनः कांश्चिल्लोकयात्रासु[5] अस्मद्रूपप्रमातृभेदेन स्थापयिष्यन् भिन्नीकृतान्प्रमेयानपि घटपटादिवैलक्षण्येनात्माभेदेन पश्यन् समाविशति इत्युच्यते । यावत्या च मात्रया समावेशस्तावन्मात्रसिद्धिसंभवः । प्रथमस्तावत् कर्तृतानुसारी ज्ञानक्रियायोगः । यथोक्तं स्पन्दशास्त्रे—

नहीच्छानोदनस्यायं प्रेरकत्वेन वर्तते ।
अपि त्वात्मबलस्पर्शात्पुरुषस्तत्समो भवेत् ॥' (१।८)

---

१ 'एकब्रह्मव्रताचारा मिथः सब्रह्मचारिणः' इति कोशः । २ प्रकृतशास्त्रं शैवाद्वयनयः । अयमत्र सूक्ष्मार्थः—शास्त्रादौ 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' इति नयेनावश्यं तदुत्पुंसनार्थं नमस्कारो विधेयः । येन प्रस्फुरत्तन्महौजसा विघ्नाः कुण्ठशक्तयो न प्रभवन्ति । तत्र सर्वस्याप्रकाशत्वेनासिद्धया किं केन कस्य निरसनमित्याशयेनाह प्रकृतेत्यादि । तथा च विश्वात्मनो विततरूपस्यानन्तशक्तेर्नमस्करणीयत्वम् । संकुचितसदाशिवादिज्ञानशक्तिस्वरूपपश्यन्तीधामासूत्रितस्वातन्त्र्यहानिस्वातन्त्र्याबोधात्मकस्य पशोस्तत्कर्तृत्वं तस्यैव संकुचितस्यापि तद्गुणीकारस्वरूपेण विश्रमेण गृहीतस्पन्दस्वरूपशाक्तमहिम्नोऽपि करणत्वमिति । ३ स इति मायाशक्तिकृतैक्याख्यातिभाजनभूतास्मद्रूपप्रमातृभूमौ समाविष्टः । ४ तत इति अनात्मस्थत्वे । ५ प्रमेयभेदेनैव प्रमातृभेद इत्याशयं सूचयति लोकयात्रासु इत्यादिना । यात्रा—व्यवहारः ।

इति । तथान्यत्रोक्तम् 'ऐश्वरी प्रवृत्तिः' इति । अनयैव[1] दृष्ट्या तत्तदृढचर्यमधिकतरः समावेशोऽभ्यसनीयः स्वप्रयत्नेनापीत्येतदपि सूचितम् । समाविष्टश्च शिवोऽपीत्युच्यते देवदत्तादिरपि च उभयोरैक्यगमनाविशेषात् । स तथाविधः शिवस्तततात्मने परापररूपभगवत्सदाशिवादिप्रसरणमुखेनानन्तविस्ताराय निजस्वरूपाय परमशिवसंज्ञाय नमस्करोतु । लोट् निमन्त्रणादौ[2] नमस्तेऽस्तु इतिवत् । वयं शिवात्मानः परमेश्वराय नमस्करवामेत्यर्थः । परत्वेन प्रथमपुरुषप्रयोगोऽकिंचिद्रूपत्वेन कृत्रिमाहंभावस्य कर्तृतामात्रं तत्त्वमिति दर्शनार्थः । सर्वं च शिवमयमिति नमस्कारे वाङ्मनसादि करणमपि शिव एव । तदाह स्वात्मना इति । विघ्ना अपि तदात्मान एव निवार्याः । तदाह आत्मनिवारणे इति । नमस्कारे चास्मदीयेच्छादिशक्तिः शैव्येवेत्याह निजया शक्त्या इति । एतेन[3] सर्वा एव क्रियाः सकारकाः सफलाश्च गमनभोजनादिका एवमेवानुगन्तव्या इति दर्शितम् ॥ १ ॥

इदानीं समस्तशास्त्रार्थं संक्षेपेण सयुक्तिकं[4] प्रतिजानीते—

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः[5] ।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः[6] प्रसरद्दृक्क्रियः[7] शिवः[8] ॥ २ ॥

---

१ यथा भिन्नीकृतानपि प्राणादीन्प्रमेयानात्माभेदेन पश्यति तथैव सर्वमपि व्याप्यमित्यर्थः ।

२ नियोगकरणं निमन्त्रणमावश्यके प्रेरणेत्यर्थः । ततश्चाप्रवृत्तप्रैष इति फलितोऽर्थः, तेन प्रेषणानवकाश एवेत्यर्थः । तदुक्तं हरिणा—

'अप्रवृत्तस्य हि प्रैषे पृच्छ्यादेर्लोड्विधीयते ।
प्रवृत्तस्य यदा प्रैषस्तदा स विषयो णिचः ॥'

इति । तेन करोत्वित्यत्रान्यप्रेरकत्वमिति न भ्रमितव्यम् ।

३ एतेनेति—अयं श्लोको नमस्कारैकपरमार्थोऽपि प्रयुक्त इहोदाहरणीकृत एव मन्तव्य इत्याह गमनभोजनादिका इति । तेन अभ्यवहारगमनजल्पसंवेशनादिकं कारकैर्भेदप्रथाभासकं फलेन च कार्यकारणभावाभासकं तत्सर्वं तस्यैव ततात्मनः स्फुरणमात्रमेव मन्तव्यमिति भावः ।

४ अनुभवानुसारी तर्को युक्तिः ।

५ स्वप्रकाश एव । ६ अहंप्रथात्मत्वेन स्वातंत्र्यात् । ७ घटादीनां यत्पार्यन्तिकं पारमार्थिकं रूपं, स एव ।

८ अयमर्थः—सर्वभावानां य आत्मा वेद्यताख्यः स एव शिव इति वं विना 'प्रागिवार्थोऽप्रकाशः स्यात्' इति नीत्या सर्वान्ध्यप्रसंगः । अत

सर्वभावेषु स्वात्मैव शिव इति व्यवहर्तव्यमिति प्रतिज्ञा[1]। निर्वृतचिदित्यादिविशेषणकलापो हेतुः[2]। स्फुरन्निति धर्मिणो[3] हेतोश्च[4] स्वसंवेदनप्रत्यक्षं प्रमाणम्[5]। अत एव स्फुरन्निति पृथक्पदम्। निर्वृतचित्त्वाच्चेव[6] च शिवत्वमित्यर्थाच्छिवलक्षणमपि दर्शितम्। तस्मिंश्च सिद्धे विषये, शिवत्वव्यवहारमात्रं तद्विषयं साध्यत ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तक्रमेण। यथा च चिन्निर्वृतीच्छाज्ञानक्रिया घटपटपर्यन्तसर्वभावेषु भासमानेषु स्फुरन्ति,

---

एव च न बाह्यं नाम किंचन परमार्थतो विद्यते। एवं चार्थस्य प्रकाशत्वे प्रकाशोऽप्यर्थः अर्थोऽपि प्रकाश इति भावगर्भीकारेण व्यासमुनिना गीतासूक्तं—

'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।' (६।३०)

इति। तथा—

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।' (६।२९)

इति च। वृत्तिकृता चान्यत्रोक्तम् 'अर्थानां प्रकाशात्मतया परमात्मत्वेन विश्वरूपत्वात्'। अन्यत्रोक्तम् 'एकैकत्र च तत्त्वे षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपता विद्यते' इति। तथा वेदान्तिनोऽपि प्राहुः—

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तोऽविकल्प्यश्च।'

इति। अत एव च शरीरमेव च ये षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं शिवरूपतया पश्यन्ति अर्चयन्ति, तेऽपि च सिद्ध्यन्ति घटादिकमपि वा तथाभिनिविश्य पश्यन्तीति नास्त्यत्र विवादः।

१ परप्रतीत्यै पञ्चावयवं वाक्यमुदाहरणीकरोति प्रतिज्ञेति, ससाध्यं पक्षकथनं प्रतिज्ञा। २ लिङ्गवाचको हेतुः। ३ स्वात्मैव शिव इत्यस्य। ४ निर्वृतचिदित्यस्य। ५ अनुमानं हि प्रत्यक्षमूलम्। ६ निर्वृतिः स्वप्रकाशस्वरूपविश्रान्तिरानन्दलक्षणा, तत्र नित्ययोगे मत्वर्थञ्च् प्रत्ययः। तेन चितः समासकरणं वृत्तौ पदानामेकार्थीभावादत्यन्ताावियोगमेकार्थीभूततां च प्रकाशानन्दयोर्दर्शयद्विज्ञानानन्दरूपस्य भगवतो धर्मित्वं कथयति। उक्तं चेश्वरप्रत्यभिज्ञायां—

'किंतु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते।
शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते॥' (१।१।३)

इति।

तथाग्रतो[1] वक्ष्यते । शक्ति[2]शक्तिमतोरभेदाच्छक्तिमतश्चैक्यात्[3] शक्तिपञ्चकं परापराद्यवस्था[4] व्यवहर्तुं प्रमात्रपेक्षयेतीश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तनीत्या[5] पुरस्ताद्वक्ष्यते । निर्वृता वेद्यनिराकांक्षा पूर्णा चिद्यस्य सः, तथा विभुरात्मसात्कृतसमस्तवेद्यार्थः, अनिरुद्ध[6] इच्छाप्रसरो यस्य, प्रसरन्त्यौ दृग्ज्ञानं[7] क्रिया च यस्य स तथालक्षणः शिवः सर्वेष्वात्मैव ॥ २ ॥

एवं सर्वं शिवरूपमिति स्वसंवेदनसिद्धे व्यवहारमात्रं साध्यमिति स्थिते वाद्यन्तरविमतिं[8] निराकरिष्यन् परदशातः प्रभृति घटपटादिस्थितिपर्यन्तमेवंरूपशिवतावस्थितिसादृश्यप्रतिपादनं प्रस्तौति—

स यदास्ते चिदाह्लादमात्रानुभवतल्लयः ।
तदिच्छा तावती तावज्ज्ञानं तावत्क्रिया हि सा ॥ ३ ॥
सुसूक्ष्मशक्तित्रितयसामरस्येन वर्तते ।
चिद्रूपाह्लादपरमो निर्विभागः परस्तदा ॥ ४ ॥

शिवैक्याख्यातिरूपभ्रान्तिमयसंसारावस्था यावन्नोन्मिषति, तावदपि तावत्येवोक्तरूपशिवता[9] । तथाच शक्तिपञ्चकमपि तदानीमेकरूपमपि व्यवहारापेक्षया कार्यसंभवादस्त्येव[10] । तथा[11] हि परापरावस्थायां योऽहमिति सहजप्रत्यवमर्शात्मा प्रकाशः, स एव परानपेक्षः पूर्णत्वादानन्दरूपो निर्वृतचिन्मयः स्थित एव । सैव स्वतन्त्रा मुख्या शिवता । तदुक्तं चिदाह्लादेति । पूर्णचिदानन्दमात्रेऽनुभवः प्रकाशनं ननु बाह्ये, तत[12] एव तत्रैव लयो यस्य

---

१ 'घटादिग्रह' इत्यादौ । २ अत्र शक्तिपञ्चकेनैव भेदमाशङ्क्याह । ३ तस्य स्वात्मन्यपि भेदमाशङ्क्याह । ४ सदाशिवत्वमुद्रेकादित्यादौ । ५ ऐक्ये सिद्धे पूर्णत्वस्य बलादेव लाभ इति व्यतिरिक्ताकांक्षावैकल्यात्—

प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः ।
उक्ता च सैव विश्रान्तिः सर्वापेक्षानिरोधतः ॥
स्वातंत्र्यमथ कर्तृत्वं मुख्यमीश्वरतापि च ।' (अ. प्र. सि. २२ का.)

इति परमानन्दस्वभाव इत्यर्थः ।

६ यतः सर्वभावेषु आत्मा अहमिति स्वतन्त्रस्तत एव । ७ प्रकाशो विमर्शश्च ।

८ वेदान्तानां भिन्नवेद्यवादिनां च । ९ कथितव्याप्तिका । १० कार्येण कारणानुमानम् । ११ तत्रादौ परापरावस्थायाः चिदानन्दतां समर्थयति । १२ चिदानन्दमात्रव्यतिरिक्तस्य भिन्नज्ञानवदभावात्तत एव प्रकाशस्तत्रैव लयश्च ।

स तथा। अनेन निर्वृतचित्कथिता। इच्छाज्ञानक्रियास्तु भिन्नविषयाद्यपेक्षया[१] स्फुटीभवन्ति। परावस्थायां पुनः पूर्णोऽहमित्येव स्वस्वभावः प्रकाशते, तावत्प्रकाशत्वात् तदेव ज्ञानं, संरम्भरूपत्वात्[२] सैव क्रिया, तत्स्वभावत्वेन तदभ्युपगमादिच्छापि स्थितैवेत्याह तदिच्छा तावतीति। तावच्च स्वरूपं क्रियेति योज्यम्। अथवा तावज्ज्ञानमिति तावच्छब्दः[३] क्रियायां स्त्रीलिङ्गः परिणमनीयः। द्वितीयस्त्वन्ते तावच्छब्दः क्रमार्थः परापरा[४]-द्यवस्थापेक्षः। अत एव भिन्नविषयाभावेऽपि अभ्युपगमप्रकाशसंरम्भाणां सर्वदा प्रकाशमयत्वेनाविचलनादिच्छादिव्यवहारयोग्यतैवेत्युक्तं[५] सुसूक्ष्मेति[६]। सुसूक्ष्मत्वमेषितव्याद्यभावेन विभागापरिकल्पनात्। अत एव शक्तिसामरस्यं पूर्णचिन्मात्रप्रकाशनात्मत्वात् चिद्रूपाह्लादपरत्वं चोक्तम्। सैव च निर्विभागता परावस्था यदैवमास्ते परस्तदेत्युक्ता ॥ ३-४ ॥

अन्यदशायामपि[७] सा तथाभूतज्ञेयादिशून्यशुद्धपरशिवावस्थास्तीत्याह—

न[८] परं तदवस्थायां व्यवस्थैषा व्यवस्थिता।
यावत्समग्रज्ञानाग्रज्ञातृस्पर्शदशास्वपि ॥ ५ ॥
स्थितैव लक्ष्यते सा च तद्विश्रान्त्या तथा फले।

---

१ तेन न भिन्नविषयाप्रविभागदशायां व्यभिचार इति भावः। अनेन संविदानन्दात्मनः सर्वत्रैकरूपत्वेनानपायित्वेन धर्मिरूपेण शक्तिमदात्मनावस्थितस्य भगवतः स्वातन्त्र्योद्रेकबलेनोन्मेष्यमाणानां चेच्छादीनां शक्तित्वं द्योतितम्। २. स्वात्मोच्छलत्ता।

३ तावती क्रियेत्यर्थः। ४ परावस्थायां क्रमाभावात्। अभ्युपगम इच्छा। प्रकाशो ज्ञानम्। संरम्भः क्रिया। ५ अव्यभिचारात्। ६ सुसूक्ष्मेति सूक्ष्मतयैवात्र स्थूलदर्शिनां विशुद्धबोधात्मवादिनां विकल्पपक्षीकृतविमर्शानां भ्रान्तिरित्यर्थः। ७ घटपटादिरूपभेदप्रथारूपायाम्। ८ ननु पूर्वम् 'आत्मैव सर्वभावेषु' इत्यनेन सर्वपदार्थानामात्माकार एव वेद्यताख्योऽस्ति शिव इति स्थापितं तदेव समर्थनीयं, कृतमनयोक्त्या 'स यदास्ते' 'इत्यादिकया' यतः प्रकृतमपहायान्यद् ब्रुवत उन्मत्तभाषणमिति प्रकृतविघाताख्यं दोषमाशङ्क्याह न परमिति। तत्रादौ शक्तिमत्स्वरूपमेव व्यवस्थापितं, तस्मिंश्च सिद्धे मूलकारणेऽन्यद्वर्ण्यमानं निर्भित्तिचित्रन्यायेनान्यथा घटमानं सेत्स्यतीति भावः।

न केवलं परापराद्यनाविर्भाव एवैवं नियमो[१], यावदपरावस्थायामपि। सर्वविकल्पादिज्ञानानामग्रत उत्पित्सावस्थायां[२] ज्ञानज्ञेयानाबिलज्ञातृस्वरूपसंस्पर्शोऽवश्यंभावीति तदवस्थास्वपि परव्यवस्था। यद्यपि[३] तदा पुर्यष्टकलक्षणज्ञात्रवस्थानात् सौषुप्तवत् न परावस्था, तथापि यदा ज्ञानाग्रभागेषु विश्राम्यति क्वचित्, तदा परता। न च प्रमाणभूमौ विश्रान्तिस्तत्रापि प्राणस्पन्दनात्मकज्ञेयव्याकुलितत्वात्। ततः प्राणादिज्ञेयज्ञानस्यापि अग्रतो विश्रान्तिः। वस्तुतः सौषुप्ताग्रभागिनी परता स्थितैव, लक्ष्यते च प्रकाशस्यालक्ष्यमाणत्वाभावात्, तथा फलेऽपि मयैतज्ज्ञातमिति प्रमाणफलभूतज्ञानान्तरोदये तदा ज्ञानमात्रे निर्वृतिमति विश्रान्त्या। अथवा यथा समग्रज्ञानानामारम्भे, तथा फले परिसमाप्तौ तत्रैव विश्रान्त्या। तद्विश्रान्तिं[४] विना अर्थो ज्ञात एव न भवति। समग्रत्वमनेकप्रकारकत्वेन[५] ज्ञानानां मध्यदशायामेव प्रत्यगात्मत्वेन। पूर्वापरकोटचोस्तु एकविशुद्धशिवतैव सर्वेषाम्। एतच्चेश्वरप्रत्यभिज्ञायां परीक्ष्यम् ॥ ५ ॥

सर्वत्र शक्तिपञ्चकस्वभावमुपसंहरन्नाह—

एवं[६] न जातुचित्तस्य वियोगस्त्रितयात्मना ॥ ६ ॥
शक्त्या निर्वृतचित्त्वस्य तदभागविभागयोः।

एवमुक्तप्रकारेण त्रितयात्मना इच्छाज्ञानक्रियारूपया शक्त्या न वियोगः कदाचिदपि निर्वृतं चित्त्वं चिद्रूपत्वं निर्विवादं यस्य तथा चिदानन्दशक्त्योः परापराद्यवस्थास्वपि समर्थनात्[७]। केवलं परावस्थायामेषितव्याद्यभावादिच्छाद्यभावशङ्कायां तत्संभवो निग[८]मितश्चिदानन्दानुवादेन[९]। तासां शक्तीनामविभागविभागयोः परत्वापरत्वावस्थाभेदेषु ज्ञेयादिसद्भावे शक्तीनां विभागव्यवहारात् तस्य प्रमातुरिच्छादिशक्तिभिर्न विरहः ॥ ६ ॥

---

१ सर्वशक्तिसामरस्यस्वरूपशक्तिमदवश्यंभावः। २ उत्पतितुमिच्छा उत्पित्सा। ३ ननु चास्तु तत्र ज्ञानज्ञेयानाबिलज्ञातृरूपस्पर्शस्तथापि कथं परव्यवस्था, नहि तेनैव तद्भावः, अस्ति च तादृक्स्वरूपं सौषुप्तं, यतो मलेन न्यक्कृतः कलया तु प्रबुद्ध इवात्र तन्न्यक्कारेण सुष्ठु सुप्त इति तत्रापि ज्ञात्रवस्थानेऽपि सुषुप्त इति कथ्यत इत्याशयेनाह यद्यपीति। ४ यथोक्तं वृत्तिकृतैव। ५ का पुनरपरावस्था इत्याह।

६ एवमिति अपूर्वप्रक्रियया सिद्धेऽर्थे सति। ७ तथाहीत्यादिना। ८ निगमावयवेन निश्चायितः। ९ परावस्थायां पुनरित्यादिना।

विभागे यथा शक्तिपञ्चकस्थितिस्तथा वक्तव्यं, तत्क्रमेणाह—

यदा[1] तु तस्य चिद्धर्मविभवामोदजृम्भया ।। ७ ।।
विचित्ररचनानानाकार्यसृष्टिप्रवर्तने[2] ।
भवत्युन्मुखिता चित्ता सेच्छायाः प्रथमा तुटिः ।। ८ ।।

चिद्रूपस्य शिवभट्टारकस्य धर्मः स्वभावो यो विभवः पञ्चविधकृत्यनिर्वृत्तियोग्यता, तस्यामोदश्चमत्कारस्तथास्वरूपपरामर्शरूपस्तस्य जृम्भा विश्वात्मतया विकसनम् । यदुक्तं मया स्तोत्रे—

'स्फारयस्यखिलमात्मना स्फुरन्
विश्वमामृशसि रूपमामृशन् ।
यत्स्वयं निजरसेन घूर्णसे
तत्समुल्लसति भावमण्डलम् ।।'
(उ० स्तो. १३ स्तो. १५)

इति । घूर्णनं जृम्भोक्ता, तया जृम्भया हेतुभूतया स्थितिस्वरूपस्यैव मायीयाभेदाख्यातिवैचित्र्यरचनोपलक्षिता तत्स्वभावा या नानाकार्यसृष्टिः, तत्प्रवर्तने यदोन्मुखिता उन्मुखवदाचरिता वस्तुतो द्वितीयाभावात् नैरपेक्ष्येणान्तर्मुखित्वात् चित्ता चैतन्यमेव, तदा सा तुटिः सूक्ष्मकालपरिच्छिन्न इच्छाप्रथमभागः । अत्र[3] चैतावच्छक्तिकलापो व्यवहर्तॄणां परमार्थपदमारु-

---

१ इत्थं शुद्धबोधस्वरूपात्मनि शिवतत्त्वे शक्तिपञ्चकमैक्यापादनाय समर्थितं, तत्प्रसङ्गेन चापरावस्थायामपि तस्य तादृग्रूपताप्रतिपत्तिदार्ढ्यार्थं पुनरपि समर्थितमिति सिद्धं परशिवापरनरावस्थायां शक्तिपञ्चकसामरस्यात्मकं पूर्णमेवानन्दमयं चित्स्वरूपमास्त इति । तत्र या पुनः परापरा स्पन्दात्मिका शक्तिलक्षणावस्था, तत्रापीच्छादिपञ्चकसंभवं साधयति यदा त्वित्यादिना ।

२ अयमेव ह्यस्यान्यवादिभ्यो विशेषः—

'सर्गसंहृतिकर्तारं प्रलयस्थितिकारकम् ।
अनुग्रहकरं देवं वन्देऽहं भक्तवत्सलम् ।।'

इति ।

३ 'सक्रमत्वं हि लौकिक्याः क्रियायाः कालशक्तितः ।
घटते न तु शाश्वत्याः प्राभव्याः स्यात्प्रभोरिव ।।' (ई० प्र० २।१।२)

इति नीत्या यथा प्रभोः सक्रमत्वमसंभाव्यं, तथा तच्छक्त्या अपि स्वातन्त्र्ये-

रुक्षतां संभाव्यत इत्येवं निर्दिश्यते, न तु मायातत्त्वादूर्ध्वं कालविभाग-संस्पर्शः। अथवा मायोर्ध्वेऽपि परापररूपत्वादवस्थाविशेषस्य कालविभागोऽपि[1] स्यादित्यत एव त्रुटिरित्युक्तम्। सर्वं चैतत्प्रत्यभिज्ञायामुक्तम् ॥७-८॥

सा च दृश्या[2] हृदुद्देशे कार्यस्मरणकालतः।
प्रहर्षावेदसमये[3] दरसंदर्शनक्षणे[4] ॥ ९ ॥

अनालोचनतो[5] दृष्टे विसर्गप्रसरास्पदे।
विसर्गोक्तिप्रसङ्गे च वाचने धावने तथा ॥ १० ॥

एतेष्वेव प्रसङ्गेषु सर्वशक्तिविलोलता[6]।

सा च सूक्ष्मौन्मुख्यशक्तिरूपा लक्ष्या हृत्प्रदेशे पूर्वचिकीर्षितविस्मृत-कार्यस्मरणे, तथा प्रहर्षहेतुपुत्रजन्माद्यावेदनकाले, दरस्य भयस्य संदर्शन-प्रारम्भक्षणे, अनालोचनतः सहसैवेष्टे दृष्टे, चरमधातुविसर्गस्थाने, तथा

च्छारूपाया इत्याशङ्क्याह अत्र चेत्यादि। कालयोगाद्धि तस्या अनित्यतापि भवेदित्यर्थः। अथवा पक्षान्तरेण तां युक्त्याङ्गीकरोति 'मायोर्ध्वे' इति, तेन परापरतयेदन्तोन्मेषे तत्रावश्यं सूक्ष्मकालशक्तिरस्त्येवेति भावः।

१ अपिशब्देन विद्युदाभासवदस्यावस्थानं द्योतयति। २ दृश्या स्फुटं लक्षणीया। ३ प्रियतमपुत्रमृतोत्थितिवार्ताश्रवणकाले। ४ भयारम्भ-प्रथमक्षणे। ५ अश्रुतपूर्वाश्चर्यवस्तुनोऽकस्माद्दर्शने। ६ एवं वा निर्मातृता-मयी अभ्युपगमलक्षणा प्रमातृता सैवेच्छा। सा च सहृदयानां स्वसंवेदन-सिद्धत्वादनपह्नुतस्वभावैव स्थिता—यथा गच्छामीत्यादौ सामान्यरूपत्वेन यदशन्तव्यादिकं ग्राह्यं शरीरेन्द्रियप्राणबुद्ध्यादि, विशेषानुल्लेखेन च यत् ग्राहकं, तदन्योन्याभासासामान्यलक्षणं पश्यन्तीशब्दवाच्यमिच्छालक्षणं प्रसरं विविच्य, तत्प्रत्यभिज्ञोपायं प्रबुद्धान्प्रति विषयाभिव्यक्तिपूर्वमाह सा चेत्यादि। एतच्च—

'अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन्।
धावन् वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः ॥' (१।२२)

इत्यादिना स्पन्दे संगृहीतम्। तथा—

'कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यगोचरे ।
बुद्धिं निस्तिमितां कृत्वा तत्तत्त्वमवशिष्यते ॥ (वि० भै० १०१)

विसर्जनीयभाषणप्रसङ्गे, त्वरितग्रन्थवाचने, धावनविधौ चेति[1] । एतेष्वेवावसरेषु सा पूर्वोक्तक्रमेण सर्वशक्तीनां विलोलता मिश्रीभावः ।। ९–१० ।।

सुखदुःखात्मकत्वेनाशुद्धत्वाद्धेयेऽस्मिन्कार्ये कथमौन्मुख्यमित्याशङ्कां निवारयन्नाह—

कुत्सितेऽकुत्सितस्य[2] स्यात्कथमुन्मुखतेति चेत् ।। ११ ।।
रूपप्रसाररसतो[3] गर्हितत्वमयुक्तिमत्[4] ।
पञ्चप्रकारकृत्योक्तिशिवत्वान्निजकर्मणे ।। १२ ।।
प्रवृत्तस्य निमित्तानामपरेषां क्व मार्गणम् ।

आनन्दे महति प्राप्ते दृष्टे वा बान्धवे चिरात् ।
आनन्दमुद्गतं ध्यात्वा तल्लयस्तन्मना भवेत् ।। (वि० भै० ७१)
क्षुताद्यन्ते भये शोके वारणे विद्रुते रणे ।
कुतूहले क्षुधाद्यन्ते ब्रह्मसत्ता समीपगा ।।' (वि० भै० ११८)

इति । अयमत्र भावः––सर्वशक्तिपरिपूर्णतात्मकं चितो यद्रूपं, तद्यदा स्वातंत्र्यात् संवित्स्वभाव आमृशति, तत उन्मुखीभूतायां चिद्रूपतायां तत्प्रसरप्रथमविकासलक्षणायामिच्छाकलिकायां स्थितः सर्वाविभागेन स्थितिं भाविन उपयोगिरूपस्य प्रमातृप्रमाणप्रमातव्यवर्गस्य विमृशन् भाविभेदाः शक्तीरभेदकल्पेनैव पिण्डीकृताः सतीर्गोलकशिम्बिकादिविकल्पेनोत्थापयति, तत एव च भाविनियतक्रमककार्यं जायते––यथा श्लोकं स्मरेयममुमिति सुस्मूर्षयैकयैव मध्यवर्तिषु वर्णपदादिषु प्रत्येकस्मृतिसन्ततिप्रबोधकारणमेषणमन्तरेणैव नियतक्रमकस्मरणपरम्परोदय इति ।

१ यदि हि धावनादौ अभिन्नस्य प्रमातृप्रमेयरूपस्यानिर्दिशितविभागस्यापि वस्तुतः प्रकाशो न स्यात्, तत्त्वरितं लिपिपाठे, वेगसरणे, त्वरिताभिधाने, रेखातो रेखान्तरं देशाद्देशान्तरं स्थानकरणादेः स्थानकरणान्तरं च गच्छतस्तांस्तांस्त्यक्तव्यांस्त्यक्तवतोऽपरामर्शतस्तयोस्त्यागादानयोः कर्तारमनभिमृशतस्तानि विचित्राणि त्यागोपादानानि कथं भवेयुः परामर्शपूर्वकतयैषां दृष्टत्वात् । तदिमानि भवन्ति स्वकारणमनुमापयन्ति, न चासौ भेदेनैव परामर्श एषामिति । भेदेन हि परामर्शे वाचिकमानसपरिस्पन्दपरम्परातोऽभिलापसंकेतस्मरणप्रबन्धसद्भावे त्वरिततैव न निर्वहेत् ।

२ स्वस्वरूपानन्दविश्रान्तस्य । ३ स्वरूपप्रसरणमेवास्यानन्दास्वाद इत्यतः । ४ अयुक्तिमदयोग्यमित्यर्थः ।

[1]मायाशक्तिकृतपूर्णस्वरूपाख्यातिमयचित्रकार्यतापन्नस्वरूपप्रसरण-रसात्[2] प्रभोरस्य तद्रूपस्य[3] कार्यभेदस्य कुत्सितत्वमयुक्तम्। तथाहि परापरावस्थायां[4] सदाशिवेश्वररूपत्वे विश्वमहमिति विश्वरूपत्वमेव संविदि स्फुरति[5]। अपरावस्थायामपि[6] अहं घटमिमं वेद्मि घटोऽयमिति वा द्वैतदृष्टौ चिदात्मकतां[7] विना प्रकाशमानतैव नोपपद्यते इति तद्रूपतैव[8], किंतु[9] मायाशक्तिवशादभेदापरामर्श[10] इति सर्वदा[11] स्वरूपप्रसरणमेवेति कथं गर्हितत्वम्। अभेदापरामर्शनमेव भ्रान्तिरूपं कुत्सितं, तच्च[12] न

---

१ मीनाति पशुप्रमातॄनिति माया, सा चासौ शक्तिः। तेन परमेश्वरस्य स्वातंत्र्यमेव यच्चिकीर्षालक्षणं, तेनाहमित्यखण्डितेऽपि स्वरूपे भासमाने या तत्रैवेदमिति प्रतीतिः स्वरूपप्रसरणरूपा, सैव मायाप्रमातॄन्प्रति मायाशक्तिः।

२ तेन शक्तिमता स्वस्वातन्त्र्यरूपया मायाशक्त्या कृता या पूर्णस्याख्यातिरिदमहमिति। ३ स्वरूपप्रसरणरूपस्य।

४ परापरावस्थायां सदाशिवेश्वररूपत्वे। यद्यत्र शुद्धविद्यास्वरूपोन्मीलनं न कृतं, तथापि तदभावोऽपरावस्थात्वं तस्या न मन्तव्यं, यतो यथा शिवतत्त्वस्य यदौन्मुख्यं सा शक्तिरिति भण्यते न परावस्थायां शिवतत्त्वात् पृथग्गणनीयतां गता, तथा सदाशिवेश्वरयोरपि बहिरौन्मुख्यं विद्येति भण्यत इति न तस्याः पृथगिह निर्देशः।

५ तेन नात्र कापि कुत्सितत्वशङ्केत्यर्थः। ६ अत्रेमं घटमिति यदि प्रमातृविश्रान्तः प्रकाशस्वरूपो न स्यात्, तर्हि अहमित्यत्राहन्ताश्लिष्टः कथं भासेत। ७ नन्वस्तु सूक्ष्मो विमर्शोऽहन्ताविश्रान्तत्वादहं घटमिमं वेद्मीत्यत्र प्रकाशस्वरूपावेश्येव, यत्राहन्ताविश्रान्त्यभावात् स्थूलत्वेन घट इति अयमिति च विकल्परूपता; तत्र शब्दोऽपि नीलवत्पृथगेव प्रतिभासते, तत्र कथं प्रकाशात्मतेत्याशयगर्भीकारेणाह चिदात्मकतां विनेत्यादि। उक्तं च प्रत्यभिज्ञायां—

'घटोऽयमित्यध्यवसा नामरूपातिरेकिणी-
परेशशक्तिरात्मेव भासते न त्विदन्तया ॥' (१।५।२०)

इति। ८ तद्रूपता चिद्रूपता। ९ यद्येवं, तर्हि केयमपरा नाम वराकीत्याशयेनाह किंत्विति। १० इदन्तया भेदेनैव परामर्शः। ११ सर्वदेति परापरादौ। १२ तत् कुत्सितत्वम्। तथा च कुत्सितं स्वरूपव्यतिरिक्तत्वात्स्यादिति।

किञ्चित् अख्यातिरूपमात्रत्वात्। न तत्पूर्वस्य कस्यचित्प्रथा[1]। विश्वात्मत्वं च चिन्मयस्य प्रतिबिम्बानामिव[2] दर्पणपरमार्थत्वेन भावानां स्वच्छचिन्मात्रसतत्त्वतयावस्थानात्। एतच्च सर्वमीश्वरप्रत्यभिज्ञाटीकायां निपुणमालोचितम्। सर्गस्थितिप्रलयानु[3]ग्रहतिरोधानलक्षणपञ्चप्रकारं कृत्यं यस्य तस्योक्तिः पञ्चविधकृत्यो यदुच्यते तच्छिवत्वं ततः निजकर्मणे तत्त्वादिरूपप्रसरणरूपाय[4] प्रवृत्तस्य निमित्तानां[5] दयादीनां क्व मार्गणं निमित्तान्वेषणप्रसङ्गस्यैवाभावात् कथमेवं प्रसरतीति न चोद्यमिति तावदकुत्सितविषयमेवौन्मुख्यमिति समर्थितम्[6] ॥ ११–१२ ॥

तदिदानीं निदर्शनेन स्फुटीकर्तुमाह—

गच्छतो निस्तरङ्गस्य जलस्याततिरङ्गिताम् ॥ १३ ॥
आरम्भे दृष्टिमापात्य तदौन्मुख्यं हि गम्यते।
व्रजतो मुष्टितां पाणेः पूर्वः कम्पस्तदेक्ष्यते ॥ १४ ॥

---

१ प्रथा–प्रसरणम्। २ प्रतिबिम्बेति, यथोक्तमीश्वरप्रत्यभिज्ञायां—

'स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम्।
अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते ॥' (१।५।१०)

इति।

३ बीजाङ्कुरादौ यो मायीयो व्यवहारो लौकिकदृशा भासते, स तिरोधिकृतः। यस्तु तत्रापि पारमार्थिकतयैव स्थितः, सोऽनुग्रहशक्तिकृतः। एतदेव हि अस्यान्यवादिभ्यो विशेषः, यत्सततमेव पञ्चकृत्यविधानमिति यदुक्तं—

'मुहुर्मुहुरविश्रान्तस्त्रैलोक्यं कल्पनाशतैः।
कल्पयन्नपि कोऽप्येको निर्विकल्पो जयत्यजः ॥' (स्त० चि० ११२)

इति। ४ सृष्ट्यादिरूपेण तत्त्वादिप्रसरणं, तत्र पारमार्थिककाल्पनिककार्यकारणभावादौ तिरोध्यनुग्रहशक्ती। ५ निमित्तानामिति। यदाहुरेके 'ईश्वरः स्वात्मन्यवाप्तसर्वकामः, किमस्य सृष्ट्यादिना फलमिति। सर्वो हि यः कश्चित्प्रवृत्तिकारी प्रयोजनमुद्दिश्यैवाभिमुखीभवति, तच्चास्यावाप्तकामत्वान्न संभाव्यम्' इति भगवांल्लोकानुग्रहार्थमेव प्रवर्तते इति कथने दुःखमयीं कस्मात् सृष्टिं कुरुते दयालुत्वात्तस्येति दयादीनां निमित्तानां क्वास्मिन्नये पर्येषणा।

६ समर्थितमिति—अशक्यसाधनमपि साधितम्।

बोधस्य स्वात्मनिष्ठस्य रचनां प्रति निर्वृतिः ।
तदास्थाप्रविकासो यस्तदौन्मुख्यं प्रचक्षते ।। १५ ।।

किंचिदुच्छूनता सैव महद्भिः कैश्चिदुच्यते ।
तस्येच्छा कार्यतां याता यया सेच्छः स जायते ।। १६ ।।

औन्मुख्यस्य य आभोगः स्थूलः सेच्छा व्यवस्थिता ।
न चौन्मुख्यप्रसङ्गेन शिवः स्थूलत्वभाक् क्वचित् ।। १७ ।।

यथा जलस्य पूर्वं निस्तरङ्गस्यातितरङ्गितां गच्छतः सूक्ष्मः पूर्वः कम्प औन्मुख्यरूपः, पाणेश्च मुष्टितां गच्छतः पूर्वः सुसूक्ष्मः कम्पो दृश्यते, तथा बोधस्य स्वरूपस्थस्य पूर्णस्य विश्वरचनां प्रति अभिलाषमात्ररचनायोग्यताया यः प्रथमो विकासः प्रवृत्त्यारम्भस्तदौन्मुख्यं प्रचक्षते । प्रवृत्त्यारम्भश्च निर्वृतावप्यभेदाख्यातिधर्मत्वेन तस्याः[1] प्रथनात् । यदेतदौन्मुख्यं, सैव किंचिदुच्छूनता कथ्यते भट्टप्रद्युम्नेन तत्त्वगर्भे । अन्यैरपि तरङ्गोर्म्यादिशब्दैरपि । तस्यौन्मुख्यस्येच्छा कार्या । तस्य हि योऽसावाभोगो ज्ञानादिकार्योत्पादनसमर्थो विस्तृतो दार्ढ्यमय उत्तरो भागोऽत एव रचनास्थाविकासदार्ढ्यात् स्थूलः, सेच्छा व्यवस्थिता । न चोच्छूनतादिव्यपदेश्यौन्मुख्यप्रसङ्गेन शिवो बीजमिव स्थौल्यभाक् । इच्छाद्य[2]सद्भावे वा अन्यत्र क्वचित् वस्तुतो न स्थौल्यं चिदात्मनः प्रतिबिम्बकल्पैर्भावैरनाधिक्यात् । नापि तदात्मताप्रथा भ्रान्तिरिति[3] सर्वमुक्तं टीकायाम् ।। १३–१७ ।।

व्यावहारिकोऽपि नास्त्येवमादौ भेदस्तथापरामर्शानिवृत्तेरित्याह—

गोः स्तनात्पाततः क्षीरे विकारस्तत एव हि ।
न च न क्षीरमित्येष व्यपदेशोऽस्ति तत्क्षणम् ।। १८ ।।

गोः स्तनात् पातात् क्षीरे विकारस्तत एव तदनन्तरमेव । न च तत्क्षणं तत्र न क्षीरपरामर्शो, यावत्परामर्शैक्यं तावत्सर्वदैक्यमेव ।। १८ ।।

---

१ तस्या निर्वृतेः ।
२ निराकाङ्क्षतादशायाम् ।
३ आभासमानत्वात् ।

एवमौन्मुख्यमिच्छायां उक्तमिदानीमुपपादयन्नाह—

यत इच्छति तज्ज्ञातुं कर्तुं वाहेच्छया क्रियाम् ।
तस्याः पूर्वापरौ भागौ कल्पनीयौ पुरा हि या ॥ १९ ॥
तत्कर्मनिर्वृ तिप्राप्तिरौन्मुख्यं तद्विकासिता ।

यस्मादिच्छति ईश्वरो ज्ञातुं वा कर्तुं वा इति यदुच्यते, तदाख्यातपदमिच्छया इच्छालक्षणां क्रियामाह। तस्या इच्छायाः पूर्वापरौ भागौ कल्पनीयौ पूर्वापरीभूतावयवत्वात् क्रियायाः[१] इच्छायाः क्रियात्वाभिधानेन। इच्छादीनामन्योन्यात्मता शक्त्यवस्थायां सुतरां स्यात्। ततश्च परमार्थत एकैव शक्तिः शक्त एवास्तीति प्रतिपादितम्। उत्पत्तिकथायां तु इच्छायाः पुरोभागे या तस्मिन् कर्मणि तत्कर्मनिष्ठा निर्वृतिप्राप्तिः, तदौन्मुख्यं[२], कर्मावच्छिन्ना निर्वृतिरौन्मुख्यम्, अनवच्छिन्ना निर्वृतिमात्रमानन्दशक्तिरिति यावत्। तदौन्मुख्यं विकासिता चिदास्थाप्रविकास इत्युक्तम् ॥ १९ ॥

अनन्तरं हि तत्कार्यज्ञानदर्शनशक्तिता ॥ २० ॥
ज्ञानशक्तिस्तदर्थं हि योऽसौ स्थूलः समुद्यमः ।
सा क्रियाशक्तिरुदिता ततः सर्वं जगत्स्थितम् ॥ २१ ॥

परतस्तस्मिन् विश्वलक्षणे कार्ये यज्ज्ञानं, तत्प्रकाशनशक्तिरूपता चिदात्मनः सर्वप्रतिपत्तॄणामवेद्यमन्तःकरण इव प्रकाशमानं तत् कार्यं यतः— सा ज्ञानशक्तिः। अनन्तरं सर्वप्रमातृवेद्यस्थूलकार्याकारसंपत्तिफलः समुद्यम इच्छाविषय एव क्रियाशक्तिः। तत एव परिसमाप्तिः व्यवहार्यकार्यलाभादित्युक्तं ततः सर्वं जगत्स्थितमिति ॥ २०–२१ ॥

न केवलं जगन्निर्माण एवैवं, यावदेकैकघटकरणकालेऽपि एवं शक्तिरूपतेत्याह—

एवं सर्वसमुत्पत्तिकाले शक्तित्रयात्मता ।
न निवृत्ता, न चौन्मुख्यं निवृत्तं, नापि निर्वृति ॥ २२ ॥

---

१ तदुक्तं—

'गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् ।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥'

इति। २ पूर्णानन्दस्वरूपभेदाख्यातिरित्यर्थः।

इच्छाज्ञानक्रियात्मता तावत्सिद्धा[1] घटादिकरणकाले। औन्मुख्यमपि इच्छापूर्वभागोऽस्ति कर्मावच्छिन्नविशिष्टनिर्वृतिरूपः। अन्याप्यनवच्छिन्नानन्दरूपा निर्वृतिरनिवृत्ता, तदभावे विशेषनिर्वृतेरभावात्[2] तथा बोधाभावे विशिष्टघटादिबोधस्य[3]। अत एव निर्वृतेर्विशिष्टरूपताप्राप्तिरिति प्राप्तिग्रहणं पूर्वं[4] कृतम्। यदि वा निर्वृतिशब्देन पूर्णचिच्छक्तिरुपात्ता शक्तिपञ्चकाय॥ २२॥

एकशक्त्यभावेऽपि कार्योत्पत्तिर्न स्यादित्याह—

यदेकतरनिर्याणे[5] कार्यं जातु न जायते।
तस्मात्सर्वपदार्थानां सामरस्यमवस्थितम्[6]॥ २३॥

यस्मादेकतरस्य शक्तिभेदस्य निर्याणे अपाये कार्यं न कदाचित् स्यादित्युक्तं, तस्मात् सर्वपदार्थानामुत्पत्तिकाले सर्वतत्त्वमयशिवतत्त्वोपयोग इति न कदाचनापि शिवरूपसंस्पर्शविरहिता, महासर्गप्रारम्भ इव भावानामेकैकस्य निर्वाणेऽपि परमेश्वरस्पर्शरसोऽखण्डित एवेति सामरस्यम्। कुम्भकारस्यापि घटकरणे सर्वशक्तिशिवात्मता, तदपरिज्ञानात्तु कुम्भकारतेत्यर्थः। एकतरेति तरप्पाठः औन्मुख्यनिर्वृतिद्वित्वापेक्षया॥ २३॥

न केवलं घटादिकरणकाले सर्वशक्तिसंभवः, यावत् ग्रहणकालेऽपीत्याह—

घटादिग्रहकालेऽपि घटं जानाति सा क्रिया।
जानाति ज्ञानमत्रैव निरिच्छोर्वेदनक्षतिः॥ २४॥
औन्मुख्याभावतस्तस्य निवृत्तिर्निर्वृतिं विना।
द्वेष्ये प्रवर्तते नैव न च वेत्ति विना चितम्॥ २५॥

घटादिज्ञानकाले यत् घटं जानाति—त्रिदभेदाख्यातिवैचित्र्यभिन्नघटदेवदत्तात्मकवेद्यवेदकाभासनं नाम यत् क्रमिकपूर्वं रूपं सा ज्ञान-

---

१ नात्र व्यभिचारः। २ औन्मुख्यरूपायाः। ३ अभावः। ४ तत्कर्मनिर्वृतिप्राप्तिरित्यत्र। ५ निर्याणेऽपगतौ। ६ सर्वपदार्थानामुत्पत्तौ शक्तिमदात्मकं स्थितमेव।

लक्षणा क्रिया पूर्वापरीभूतावयवा, न तु जानामीति[1] वचनप्रवृत्तिकाल एव । जानातिरूपत्वाज्ज्ञानमत्रैव क्रियात्मनि स्थितम् । निरिच्छोरवधानरहितस्य वेदनं न भवेत् मनसानधिष्ठानात् । अवधानवद्दर्शनमेव इच्छा । तत्र च इच्छाक्रियापूर्वभाग औन्मुख्यं तत्कर्मनिर्वृतिः । तदौन्मुख्याभावतस्तस्य प्रमातुर्वेदनस्य वा निवृत्तिः नहि औन्मुख्यरूपां तत्कर्मनिर्वृतिं विना द्वेष्ये प्रवर्तते । न च चितमभेदप्रत्यवमर्शशक्तिरूपां विना पूर्णशुद्धबोधात्मा कर्ता वेत्ति घटादीन् संविन्निष्ठत्वाद्विषयव्यवस्थितीनाम् । सैव चिच्छक्तिः सामान्या निर्वृतिशक्तिरानन्दरूपा ॥ २४-२५ ॥

ज्ञानकाले शिवत्वाभावमाशङ्कमान आह—

बुद्धि[2] विना कथं बोधः सा[3] बुद्धिः प्रकृतेः प्रजा ।
न च[4] तस्य तया योग इति चेदपरस्थितौ[5] ॥ २६ ॥

सा बुद्धिर्यत् पुनः सूक्ष्मं[6] सर्वदिक्कं व्यवस्थितम्[7] ।
ज्ञानं बोधमयं तस्य शिवस्य सहजं सदा[8] ॥ २७ ॥

---

१ जानामीत्यविच्छिन्नाभासः, जानातीति तु विच्छिन्नाभासः ।

२ नन्वत्यल्पमिदमुच्यते यज्जानातीत्यपरज्ञानकालेऽभेदाख्यातावपि वेद्यवेदकक्षोभे सर्वशक्तिसंपूर्णपूर्णानन्दविश्रान्तशिवतत्त्वोपयोग इति यावता घटादिग्रहकाल इति ज्ञानमत्रैवेत्युक्तं, तथा च सति कोऽयं घटादिग्रहकालो नामेति । तथा यदि तत्रापि शुद्धमेव ज्ञानं, तर्हि कृतं विषयव्यवस्थाकल्पितेन बुद्धयादिना । यदि च तत्राप्यस्त्येव तत्तत्त्वोपयोगः, तर्हि कथं तस्य नैर्मल्येन संभव इति परव्यामोहदलनायाह बुद्धिमित्यादि । यदत्र केचनात्यल्पदृशो विप्रतिपन्नाः—तस्मिन्नपि शुद्धबोधे स्वप्रकाशे यदि स्वात्मोच्छलत्तात्मकं ज्ञानमङ्गीकृतमनुभूयते, तत्बुद्धिव्यापारात्मकत्वात् सर्वथा बुद्धिविलासास्तमयस्यैव स्वरूपप्राप्तिलक्षणत्वाद्विकल्पनमेव । यत्तु सर्वथा तदभाव एव, स एव सत्यस्वरूपप्राप्त्या परमार्थमोक्ष इति तद्व्यामोहेन मा व्यामुह्येयुरित्यापूर्वमाहानुग्रहपरः श्रीमानाचार्यो बुद्धि विनेत्यादि । ३ कुत इत्यत्र हेतुमाह सेति । ४ तथापि किमित्यतो न चेति । ५ भेदग्रह एव । ६ सूक्ष्मं बुद्धिज्ञानाद्यविषयं तत्र बुद्धिज्ञानात्मनो भेदस्य विगलनात् । ७ व्यवस्थितमित्यनेन विशिष्टस्य प्रमातुः कादाचित्कत्वं ध्वनितम् । ८ अपरपरापरपरासु ।

न्यायादिभिर्न[1] तुल्यत्वं तर्हि या प्राकृती मतिः ।

तस्या एवात्मधर्मत्वमिष्टं न परबोधके ।। २८ ।।

एष[2] एव हि विज्ञेयो न्याय इच्छां प्रति स्फुटम् ।

ननु जानातीति ज्ञानं बोधो बुद्धिवृत्तिः[3] कथं वृत्तिमतीं[4] बुद्धिं विना स्यात् । बुद्धिश्च प्रकृतेः प्रजाता जडा । न च[5] तया तस्य सर्वशक्तेः शिवतत्त्वस्य निर्मलस्य संबन्ध इत्येवं चेत्, तन्न । अपरावस्थायामभेदाख्यातावेकरसायां पुर्यष्टकप्रमातॄणां सा बुद्धिः । यत्पुनः पूर्णतायां परावस्थस्य अत एव सूक्ष्ममभिन्नं वेद्यतामनुपयानमत एव सर्वदिक्कं[6] दिक्कालाखण्डितं ज्ञानं बोधमात्रमबोध्यरूपं[7], तत्तस्य शिवस्य सहजं[8] सदा[9] प्राकृतबुद्ध्युल्लासेऽपि तत्सद्भावात् तद्विना[10] तदभावात् । ननु एवमपि न्यायवैशेषिकादिसाम्यमायाति ज्ञानस्य शिवाश्रितत्वोपगमे, ज्ञानं हि तेषामात्मसमवेतमिष्टं[11] शिवश्चात्मरूप इत्युक्तं

---

१ लब्धावकाशं वितण्डावादिनं प्रतिवादिनं प्रत्याह न्यायादिभिरिति । २ इच्छा मनोधर्म इति वैशेषिकमतमाशङ्क्याह एष इति । ३ अविगलितस्वरूपसतत्त्वस्यैव भावस्य धर्मकल्परूपान्तरच्छायाधारणं घटस्येवोदकाहरणं चैत्रस्येव गमनं वृत्तिरुच्यते । तथा तद्वृत्तिभेदान्न वृतिभेदो भवति तेनैव रूपेणाबाधितप्रत्यभिज्ञाविषयत्वात् । ४ तत्त्वभेदाभावात् । ५ नन्वस्तु तस्या जाड्यं, यथा तत्र विषयः प्रतिबिम्बमर्पयति, तथा पुंस्प्रकाशोऽपि समर्पयति अन्यथा विषयव्यवस्थापि तथा न सिद्ध्येत् तथा च चैतन्यं, न चेति चकारेणैतत्परिहरति । ६ सर्वासु दिक्षु वर्तमानं न तु तेनावच्छिन्नं, तथा च व्यापकत्वं विघटेत, उपलक्षणमेतत् तेन सार्वकालिकमित्यपि बोध्यं, तदाह दिक्कालेति । ७ बोधमयमत्र प्रकृत्यर्थे मयट् बोधस्वभावमित्यर्थः, तदाह बोधमात्रमिति । तदेव बोधमात्रत्वं यदन्याविषयत्वं, तदाहाबोध्यरूपमिति । ८ सहजं स्वरूपप्रत्यवमर्शस्वभावं नान्यत् । ९ तदेव स्वाभाविकत्वं यत् तत्प्रच्युतावपि भेदावभासे न तद्धानिरित्याह सदेति । १० विशेषस्य क्षोभाकारस्य सामान्यं विनास्थितेः । ११ तेषां न्यायवादिनाम् ।

न्यायादिभिरिति[1], तैर्न तुल्यत्वं प्राकृत्यां भेददशायां बुद्धियोगात्मनो ज्ञानस्य तथाभिधानात्, न त्वीश्वरे पररूपे ज्ञातरि, तदुक्तम् एष एव न्याय इच्छां प्रति स्फुटं ज्ञेयः। इच्छा चितेः प्रत्यगात्माश्रिता भेदमय्येव उक्ता यान्यैर्मनःसंकल्परूपा[2], न तु परमेश्वरस्वभावभूता परापरावस्थास्थिता वा ॥ २६–२८ ॥

सर्वतत्त्वमयतया[3] शिवतत्त्वावस्थानमाह––

तदेवं प्रसृतो देवः कदाचिच्छक्तिमात्रके ॥ २९ ॥
बिभर्ति रूपमिच्छातः कदाचिज्ज्ञानशक्तितः ।
सदाशिवत्वमुद्रेकात्कदाचिदैश्वरीं[4] स्थितिम् ॥ ३० ॥
क्रियाशक्तिसमाभोगात्कदाचित्स्थूलवेदनात् ।
विद्यात्वविद्येशानत्वमन्त्रमन्त्रेश्वरात्मताम् ॥ ३१ ॥

---

१ 'न चास्य बाह्यकरणैः सिद्धयन्ति सकलाः क्रियाः ।
नहि स्मृतिसुखेच्छादौ चक्षुरादीनि साधनम् ॥'
'तेनेच्छास्मृतिसुखदुःखवेदनाना–
माधारो न खलु मनो नचेंद्रियाणि ।
देहोऽपि व्रजति न तत्समाश्रयत्वं
तेभ्योऽन्यं पुरुषमतः प्रकल्पयामः ॥'

सूत्रकारश्च––'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्' इति ।

२ न्यायवादिभिः। ३ सर्वतत्त्वमयतयेति, यथोक्तं 'यदिदं किञ्चिदगर्भीकृतानन्तविचित्रभोक्तृभोग्यं विभवात्मकं भुवनजातमुक्तं तत्र यदनुगतं महाप्रकाशरूपं, तन्महासामान्यकल्पं शिवतत्त्वमिति।' उक्तं च तन्त्रालोके––

'यान्युक्तानि पुराण्यमूनि विविधैर्भेदैर्यदेष्वन्वितं
रूपं भाति परप्रकाशनिबिडं देवः स एकः शिवः ।
तत्स्वातन्त्र्यरसात्पुनः शिवपदाद्भेदे विभाते परं
यद्रूपं बहुधानुगामि तदिदं तत्त्वं विभोः शासने ॥' (९।२)

इति ।

४ ज्ञानशक्तेरुद्रेकात् ।

आत्मप्रच्छादनक्रीडां[1] कुर्वतो वा कथंचन[2]।
मायारूपमितीत्यादि षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपताम् ।। ३२ ।।

बिभ्रद्बिभर्ति[3] रूपाणि तावता व्यवहारतः।
यावत्स्थूलं जडाभासं संहतं पार्थिवं घनम् ।। ३३ ।।

तस्मादेवमुक्तेन क्रमेण स्वरूपानुप्रविष्टचिन्निर्वृतिरूपशक्तिद्वयः प्रकाशानन्दमयः पूर्णः परमेश्वरः शिवः प्रसृतः कदाचित् प्रथमतः[4]। शक्तिमात्रक औन्मुख्ये विषयाननुषक्ते निर्वृतिमये इच्छापूर्वभागे परापरावस्थारम्भदशायां तदनुरूपं रूपं[5] बिभर्ति ध्यायिनां ध्येयम्। कदाचिदिच्छातः[6] इच्छाशक्तिरूपत्वात् निमित्तात्। अथवा इच्छारूपमासाद्य[7] तदनुरूपं पूर्ववद्रूपं[8] बिभर्ति। कदाचित्पुनः ज्ञानशक्तिरूपत्वात् सदाशिवरूपं बिभर्ति। क्रियातो ज्ञाने तु प्रागुक्तनयेनाधिक्यात्[9]। ऐश्वरीं तु स्थितिं कदाचित्क्रियाशक्तेः समाभोगात् पर्यन्तप्राप्तविस्तारात् बिभर्ति। कदाचित् परापरावस्थान्तरभिन्नाशेषवेद्यवेदकरूपबोधात्मप्रमात्रवस्थया[10] मन्त्रादिरूपतां बिभर्ति। एकान्तभिन्नतैव वेद्यस्य विश्वस्य स्थूलत्वम्।

---

१ शिवादिमन्त्रमहेशान्तात्मत्वेनेदन्ताभासस्याहमात्मन्येव विश्रान्तेर्न किञ्चन स्वरूपान्यथाभाव इति द्योतयितुमात्मप्रच्छादनेत्यादि मायारूपमित्युक्तम्। २ केनापि गणनानर्हेण रूपेणेत्यर्थः। ३ बिभ्रद्बिभर्तीत्यनेन एतादृक्स्वरूपाभासनायामपि न तेषां स्वात्मनि किञ्चन् स्वातन्त्र्यमिति द्योतनार्थम्, अथवा शक्तिमच्छक्तिरूपतोभयविधत्वमागमेष्वेषां सूचितमेव। ४ उत्तरतत्त्वापेक्षयात्रापि क्रमः। ५ रूपमधिष्ठातृस्वरूपम्। ६ इच्छात इति निमित्तपञ्चमी। ७ इच्छारूपमित्यत्रार्थे ल्यब्लोपे पञ्चमी। ८ ध्यायिनां ध्येयमित्यर्थः। ९ अन्तःकरण इव वेद्यमिति नयेन। १० परापरावस्थायां सदाशिवेश्वररूपत्वेऽन्तरभेदेनैव केवलमिच्छाद्यनुगुणविशेषविशिष्टं वेद्यवेदकरूपं बोधात्मैव भासते, तत्रैव सर्वस्मिन्प्रमात्रुन्मीलनेन मन्त्रादिरूपता, तत्रापि चानुन्मीलितोन्मीलितन्यायेन विशेषः। ननु च किमिदमत्र स्थूलवेदनं नाम, तत्राह एकान्तभिन्नतेति। सा च प्रमात्रभिनिवेशेनेति बोध्यम्।

प्रमातॄणां च बोधात्मत्वेऽपि शिवेच्छातो[1] भेदापत्तेः स्थूलत्वम्। अतो[2] वेदनस्यापि स्थूलत्वम्[3], इदं तु विद्यात्वम्। अन्ये चैनां विद्यां भेदोल्लासात् महामायामिच्छन्ति[4]। कदाचिदात्म[5]प्रच्छादनात्मकाभेदा[6]ख्यातिमयीं संसाररूपां भ्रान्तिं[7] क्रीडामेव कथंचन तथास्वभावत्वात् कुर्वतो मायाशक्तिपरावस्था बीजभूता रूपमिति[8] चोक्तानि तत्त्वानि आदिभूतानि येषां षट्त्रिंशतस्तत्त्वानां, तद्रूपतां[9] सामान्येन बिभ्रत् तद्विशेषरूपाण्यपि बिभर्ति तावता प्रसिद्धव्यवहारनिष्पत्तेः। अप्रसिद्ध[10]व्यवहारान्तरमस्तु ईश्वरस्य कार्याणामनियमात्[11], तदात्मता तु तेषामपि[12] युक्तियुक्ता न बाधितुं शक्या। इत्येतावत् प्रतिजानीमहे[13] षट्त्रिंशत्संख्या पूर्यते यावत्[14] पार्थिवं तत्त्वम्, तदनन्तरं नोपलभ्यतेऽत्र तथा। पार्थिवं तत्त्वं स्थूलत्वात् पर्यन्तवर्ति। अनेकसहकारिसंपाद्यविशेषं कारणात्कार्यं स्थूलं

---

१ ननु चास्या वेद्यवेदकबोधात्मकप्रमात्रवस्थाया अविशेषात् कथं तत्रानेकप्रमातृतेतत्याह शिवेच्छात इति। २ अतः—प्रमाणप्रमेययोरधीनत्वात्। ३ विद्यात्वविद्येशानत्वमन्त्रमन्त्रेश्वरात्मकम्। ४ मायायां हि भेद उल्लसितोऽत्र तु तदुल्लास एवेति। यदुक्तमागमे—

'मायोपरि महामाया।'

इति। तेनात्र पर्यायभेद एव न परमार्थभेद इति। ५ स्वातन्त्र्यघनस्यात्मनः प्रकर्षेणाच्छादनं तद्धानिरूपणम्। ६ अभेदस्याप्यख्यातिरात्मनोऽप्याच्छादम्। ७ भ्रान्तिम्, पुनःपुनर्लोलिकया जननमरणस्वरूपां न तु व्यतिरेकेणाभासनात् व्यतिरिक्ताम्। ८ अपरैव रूपं रूपप्रसारः। ९ कतिपयकतिपयभेदानुगतं रूपं तत्त्वम्। ननु किमेतान्येव तत्त्वानि उतापराण्यपि सन्तीत्याह तद्विशेषरूपाणीति। १० ननु यदि अन्यान्यपि सन्ति तत्किमिति नोपदिष्टानि इत्याह तावतेति। अप्रसिद्धेति, सामान्यलोकाविषयम्।

'परिच्छिन्नप्रकाशत्वं जडस्य किल लक्षणम्।
जडाद्विलक्षणो बोधो यतो न परिमीयते॥'

इति नीत्यापरिच्छिन्नत्वमेव, यत्पुनः षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपतां बिभ्रदित्युक्तं तन्नियमनमव्यवस्था मा भूदिति। ११ 'अपरिच्छिन्नशक्तेः कः कुर्याच्छक्तिपरिच्छिदम्।' इति नीत्या। १२ कार्याणाम्। १३ प्रतिज्ञां कुर्महे। १४ यावच्छब्दस्यावाधारणावधिवाचकत्वादिति भावः।

भवति व्यक्ततरत्वात्[1] न तु सूक्ष्मम्। महत्त्वेऽपि[2] प्रधानादेः कारणस्य सौक्ष्म्यमेव[3]। तथा चिन्मयत्वात् सर्वस्य यावत्प्रकाशान्वयः। सत्त्वात्प्रभृति जलतत्त्वेऽपि शुक्लप्रकाशवर्णे तावत्कारणता संभाव्या। पार्थिवेऽपि तु यावत् तदस्ति चित्प्रकाशैक्याख्यातिमात्रात् पृथक्[4] प्रकाशात्मत्वेऽपि। तदुक्तम् जडाभासं[5] कार्ष्ण्यात् जडोऽप्रकाश आभासो[6] रूपमस्येति तत्। आकाशादिमहाभूतमयतन्मात्र[7]पञ्चक[8]व्यूहनात्मतया संहतम्[9], अनन्तरं संपर्कान्तरासंभवादन्त्यकार्यम्, अत एव बहूनां संघाताद्घनं स्वदेशान्तरप्रतिबन्धकम् अत्यन्तपरसंमिश्रणासहं[10] परिपुष्टद्वैतदृष्टिपर्यन्तनिविष्टम् ॥ २९–३३ ॥

अत[11] ऊर्ध्वं यानि भुवनादीनि कार्याणि, तान्येषामेव भूतानां विभवभूतानि अपरिसंख्येयानि स एव निर्मिमीत इत्याह—

तथा नानाशरीराणि[12] भुवनानि तथा तथा।
विसृज्य रूपं[13] गृह्णाति प्रोत्कृष्टाधममध्यमम्[14] ॥ ३४ ॥

---

१ पञ्चत्रिंशत्तत्त्वकारणं हि पार्थिवं तत्त्वं, तथा च तत्तत्सहकारिकारणोपस्कृतत्वात्कारणादपि कार्यस्य व्यक्ततरत्वात्स्थूलत्वं कार्यस्य कारणेऽन्तर्भावात्। २ सर्वानुस्यूतत्वात्। ३ अव्यक्ततरत्वात्। ४ तत् पार्थिवं तत्त्वं 'नाप्रकाशः प्रकाशते' इति न्यायेन प्रकाशात्मत्वेऽपि चित्प्रकाशैक्याख्यातिमात्रात्पृथगेवास्ति। ५ पार्थिवं तत्त्वम्। ६ जलेऽपि शुक्लवर्णाभासादस्त्येव प्रकाशान्वयः, पार्थिवे कार्ष्ण्याभासान्नास्तीत्यर्थः। ७ विशेषाणां सामान्यमूलत्वात्सामान्यकारं तन्मात्रपञ्चकम्। ८ व्यूहनं विशेषरचना। ९ संहतं निविडं मिलितम्। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रेभ्यो व्यूढेभ्यः पार्थिवं तत्त्वमिति। १० जलादिषु ह्येतानि सर्वाण्यसंभाव्यानि। तानि ह्यन्यसंपर्कसहनशक्तानि, अघनानि, स्वदेशान्तराप्रतिबन्धकानि अत्यन्तपरसंमिश्रणासहानि, अत एव न द्वैतदृष्टिपरिपोषकाणि।

११ ननु किमिदं षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपतां बिभ्रदित्युच्यते यावदन्यदपि विभवात्मकं भुवनजातमस्त्येवेत्याशङ्क्याह अत इत्यादि। १२ भोगसाधनानि शरीराणि। भुवनानि भोग्यानि। १३ भोक्तारं देवतिर्यङ्मनुष्यरूपम्। १४ अयमत्र तात्पर्यार्थः—आदौ ह्यपूर्णम्मन्यतारूपः परिस्पन्दोऽकर्मकमभिलाषमात्रं भविष्यदवच्छेदयोग्यतेति। ततोऽपि रागः कर्मावच्छिन्नोऽभिलाषः। कर्म तु तत्र कर्ममात्रं, ततोऽपि कर्मभेदविचित्रो बुद्धिधर्मो राग इति। तदिदं

एवं यथा विश्वप्रपञ्चतननक्षमं तत्त्वरूपं षट्त्रिंशत्संख्यं कार्यं रूपेण बिभर्ति, तथा तैरेव तत्त्वैर्जनकसंसारिपुरुषरूपेण निर्वर्तनीयानि न तु साक्षात् विधातुर्देवादिशरीराणि[1] कार्याणि, केवलं प्रत्यभिज्ञोक्तनीत्या[2] परस्याकिंचित्करत्वात्[3] स एव स्वकमातापितृभूतादिरूपेण देवादीन् भुवनानि च तन्निवासरूपाणि विसृज्य, प्रोत्कृष्टादिदेवमनुष्यतिर्यग्योनिरूपं[4] गृह्णाति ॥ ३४ ॥

शरीरभुवनवासना अन्योन्यानुरूपा गृह्णाति--इत्याह--

स्थानानुरूपतो देहान्देहाकारेण भावनाः ।
आददत्तेन तेनैव रूपेण प्रविभाव्यते ॥ ३५ ॥

अन्योन्यानुरूप्येणैवैषां देवादीनां विलक्षणव्यवहारनिर्वृत्तिः । स च शरीरादि आददत् तेनैव मायीयेनैव रूपेण उपलक्ष्यते प्रसिद्धः ॥ ३५ ॥

स्वस्वरूपाख्यातेर्नरकादावपि स एवास्तीत्याह--

क्रीडया[5] दुःखवेद्यानि कर्मकारीणि तत्फलैः ।
संभत्स्यमानानि तथा नरकार्णवगह्वरे ॥ ३६ ॥

मलोपोद्बलितं कर्म संसारवैचित्र्यभोगे निमित्तमिति तद्भोगवास नानुविद्धानामणूनां भोगसाधनार्थं शरीराणि स एव सूयत इत्युक्तं तथा नानेत्यादि । शरीरस्य भोगसाधनार्थं तानि तान्यनेकविधानि वासनानुसारेण भुवनानि, तदनुसारेण च भोगभुक्त्यन्तं तद्रूपतापरिग्रह इत्युक्तं प्रोत्कृष्टेति ।
१ परमेश्वरस्य सर्वकर्तुः । २ संवेदनस्वातन्त्र्यस्वभावः परमेश्वर एव विश्वभावशरीरः परमार्थतः सर्वजनकः । कथं तर्हि मातापित्रादेस्तदभिमान इति चेत्, इदं वक्तव्यं किं शरीरेन्द्रियाणां तत्सामर्थ्यमुत तद्व्यतिरिक्तस्यान्यस्य कस्यचित् । शरीरेन्द्रियाणि हि जडस्वरूपत्वाद्भावराशिमध्य एव निक्षिप्तानि कथं तेषामुत्पत्त्यभिमानः । या पुनस्तद्व्यतिरिक्ता संविन्नाम, तस्याश्च परमेश्वरसंविदोऽनधिकत्वमिति निर्णेष्यामः । तस्माद्यदत्र केचन शरणं सामग्रीवादमभ्युपागमन्सोऽपि परमेश्वरस्यैव कर्तृतोपोद्बलक इति ।
३ तत्तत्प्रमातुः कर्तुश्च ।
४ 'अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्ग ॥'
इति तत्तदवान्तरभेदेऽपि त्रिविधत्वमेवेति बोध्यन् । ५ उक्तमिदं यत्किंचिदेतद्भासते, तत्सर्वं परमाद्वयनयोपदेशेन परस्वभावमयमेवेति । तत्र मा

निवासीनि शरीराणि गृह्णाति परमेश्वरः ।

विश्वरचनामयक्रीडास्वभावेन, दुःखरूपतया वेदयिष्यमाणानि नरके, अथवा दुःखं वेदयिष्यमाणं नरके येषु तानि मायात्मकनियतिशक्तिवशात् पापकर्मकारीणि इह शरीराणि गृह्णाति, तथा नरक एवार्णवः तत्कुक्षावगाधभीषणे निवासीनि सन्ति तत्कर्मफलैः संबन्धमागमिष्यन्ति । परमेश्वरो नरकेऽपि स एवास्ते, न तु तदतिरिक्तः कश्चिदस्तीत्यैक्यमेव स्थिरीकृतम् ॥ ३६ ॥

एतदेव लौकिकदृष्टान्तेनाह––

यथा नृपः सार्वभौमः प्रभावामोदभावितः ॥ ३७ ॥
क्रीडन्करोति पादातधर्मांस्तद्धर्मधर्मतः ।
तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा ॥ ३८ ॥

यथैश्वर्यचमत्कारवासितः सार्वभौमो राजा निरर्गलतया क्रीडया तल्लक्षणस्वभावापत्तेः पदातिसंबन्धिचेष्टितानि आचरति, तथा परमेश्वरः पूर्णत्वात् स्वत आनन्दघूर्णितैस्तैर्भूतभेदात्मभिः प्रकारैरेवमेतत्सदृशं क्रीडति । हर्षानुसारी स्पन्दः क्रीडा ॥ ३७-३८ ॥

पूर्वोक्तशक्त्यादितत्त्वमुपसंहर्तुमाह––

इत्थं[1] शिवो बोधमयः स एव परानिर्वृतिः[2] ।
सैव[3] चोन्मुखतां याति सेच्छाज्ञानक्रियात्मताम्[4] ॥ ३९ ॥
सैव[5] शाक्तशरीरादिनारकान्तं[6] हि भूतता ।
प्रसूयते स्वचिद्रूपप्रमुखं पार्थिवान्तकम् ॥ ४० ॥
पदार्थत्वेन भगवान्सर्वत्रैव तदात्मता ।

कश्चिदेवं निषिद्धाचरणेन स्वात्मानमज्ञानी नरके निमज्जयेदित्यतः क्रीडयेति । अज्ञानी हि चर्यैकायत्तभोगमोक्षोऽतस्तदुल्लङ्घनेनावश्यं नरकपातमर्हतीति, तथा परमानन्दघनोऽपि कथं नरकादावास्त इति यत्केचन भ्रान्तास्तान्प्रत्यद्वयप्रतिपत्तिदार्ढ्यार्थमाह क्रीडयेति ।

१ 'आत्मैव सर्वभावेषु' इति नयेन । २ निर्वृतचिदित्यादिना । ३ यदा तु तस्येत्यादिना । ४ तस्येच्छेत्यादिना । ५ कदाचित्स्थूलवेदनात् विद्यात्वेत्यादिना । ६ क्रीडयेत्यादिना ।

अनेनोक्तप्रकारेण शिवो भगवान् बोधमात्ररूपः पूर्णो निरपेक्षः आनन्दात्मा सदैव। तथा मायाशक्तिवशादात्माख्यातितः आनन्दातिरिक्त इव तत्त्वतामेति जगन्निर्माणेच्छारूपेण स्थातुम्। तस्याः[1] क्रियात्वात् तत्पूर्वभागात्मकोन्मुखतां याति। सा च क्रमेण इच्छाज्ञानक्रियात्मतां याति। एतावता निर्मातृत्वेन शाक्तशरीरप्रभृतिनारकशरीरान्तरूपं प्रसूयते[2] स एव जायते। सा च भूतता भूतसर्गः। निजचिन्मात्ररूपशिवतत्त्वादिपार्थिवतत्त्वान्तं रूपं पदार्थत्वेन तैस्तैरुच्यमानं भगवान् प्रसूयते। ततः सर्वत्रैव तदात्मता। युक्तिश्च वक्ष्यते॥ ४०॥

भूतसर्गे प्रमातृपञ्चकं निदर्शयन्नाह—

स्वशिवत्वमिवाजानन्पश्वात्मव्यपदेशतः ॥ ४१ ॥
तद्रूपत्वेन[3] वा पश्यन्स्थितः शान्त[4] इव क्वचित्।
केवलेशदृढत्वेन[5] क्वचित्केवलशंभुता ॥ ४२ ॥
अप्रबुद्धो[6] निष्कलश्च क्वचित्प्रलयकेवली[7]।
आत्मबोधी विकलवत्क्वचिद्विज्ञानकेवली[8] ॥ ४३ ॥

स्वशिवत्वमजानन्निव पश्वात्मव्यपदेशमासाद्य स्थितः। स्वरूपाभेदाख्यातिरेव हि मायाशक्तिकृता ग्राह्यग्राहकरूपसंसारात्मतया अवतिष्ठते। तत्र ग्राहकः पशुः पुर्यष्टकावच्छिन्नं चैतन्यम्। स एव परिमितत्वादणुः चैतन्यात्मतया नित्योऽमूर्तश्च[9], विश्वात्मतात्यागेनाज्ञः, अस्वातन्त्र्यात् क्रियागुणरहितोऽनीश्वरश्च' वेद्यपुर्यष्टकात्मनि भिन्न इव रागितया भोगोपायविचिन्तको, मायाकृतत्वात्[10] मायोदरान्तःस्थः। स्वशिवत्वाज्ञानं

---

१ तस्या इच्छायाः। २ स एव तादृशो जायते। ३ शुद्धशिवत्वेन। ४ ग्राह्यग्राहकक्षोभरहितः। ५ तत्तन्निर्माणचतुरस्तत्तदुपादाननिमित्तकारणान्युपादाय स्वतन्त्रं चतुर्दशविधभूतसृष्टिकारी क्लेशकर्मविपाकाशयैः स्वयमपरामृष्टोऽन्यांश्च तत्र योजयन् स्वकर्मानुसारेण फलदाता पुरुषविशेष ईश्वर इति। ६ स्वरूपबोधेन हि पशुत्वम्लानिः, तदभावे भिन्नग्राह्यशून्यतायामपि न पाशच्छेदः। ७ प्रलयाकलः कार्मणिवमलद्वयभाजनं, विज्ञानकलः स्वातन्त्र्यहानिरूपाणवमलभाजनम्। ८ स्वातन्त्र्यहान्या।

९ पशुर्नाम किल चिदचिद्रूपावभास एव। अचिद्रूपत्वं पुनर्मललक्षणम्, तद्रूपमप्याह अज्ञ इत्यादि। १० अनेनास्या द्विरूपता साधिता। तथाहि तस्य च सृजतः परमेश्वरेच्छामयं, तत एव च नित्यं स्रक्ष्यमाणवस्तु-

शिवभट्टारकस्यायुक्तं नित्यनिर्मलस्वभावत्वात् तद्विना[1] मलानामेवानुत्पत्तेस्तदधिष्ठानात्तेषाम्[2]। ततस्तदज्ञानभागणुः तदैव मायाशक्तिवशात् उत्तिष्ठतीत्याणवमायामलद्वयोद्भवः[3]। कार्ममलश्च तत्प्रभवः[4]। स्वशिवत्वमिवेति इवग्रहणं व्यपदेशग्रहणं च अज्ञानात्मकमेतत् न वस्तुतः कश्चित् ग्राह्यग्राहकभेद इति वक्तुम्। एतच्च ईश्वरप्रत्यभिज्ञायां निपुणं विवेचितम्। क्वचिन्महामायापरपर्यायविद्याशक्तिवशात्तद्रूपत्वेन[5] आत्मानं पश्यन् सर्वथा विश्वात्मतामनुगतः शान्त इव। अत्रापि इवशब्दो ज्ञानविशेषेण शान्तता, न तु वस्तुतः सार्वात्म्यविरह इति वक्तुम्। उत्तरत्रापीवशब्दस्तदर्थं योजनीयः। विद्याशक्तितारतम्यतश्च भेदात् क्वचिद्वैशेषिकादिमतकेवलेश्वरमात्रदृढाभिमानेन स्थितः, क्वचित् केवलशंभुसंज्ञा शिवभेदेन, क्वाप्यवस्थाभेदावस्थितविज्ञानमय एवाम्लानपशुभावः मायाख्यमलोपस्थापितभिन्नग्राह्यशून्यः प्रलयकेवली भवति। अन्यत्र आत्मबोधी न तु पुर्यष्टकस्थः, प्रलयाकवलच्च ग्राह्यरहितः, कार्ममलास्पर्शी विज्ञानकेवलिरूपः ॥ ४३ ॥

इच्छावशेनैवमवस्थानमिति बहुतरवाद्युपेतदृष्टान्तमाह[6]—

योगिनामिच्छया यद्वन्नानारूपोपपत्तिता।
न चास्ति साधनं किंचिन्मृदादीच्छां विना प्रभोः ॥ ४४ ॥

गतस्य रूपस्य जडतयाभासयिष्यमाणत्वाज्जडं, सकलकार्यव्यापारादिरूपत्वाच्च व्यापकं मायाख्यं तत्त्वमुपादानकारणं, तदवभासकारिणी च परमेश्वरस्य मायाशक्तिस्ततोऽन्यैवेत्याचार्याभिनवगुप्तपादाः। १ न च मलसंबन्धेनेत्याह, तद्विनेति। २ परमेशेच्छामयत्वात्। ३ तदुक्तमीश्वरप्रत्यभिज्ञायां—

'स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥
भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम्।
कर्तर्यबोधे कार्मं तु मायाशक्त्यैव तत्त्रयम् ॥'

इति। ४ मायोद्भवः। ५ शिवत्वेन। ६ बहुतरवादीति—

'न दृश्यते त्वत्प्रतिभासशक्तेः
स्वप्नेऽर्थवैचित्र्यनिमित्तमन्यत्।
तद्दृष्टसामर्थ्यतया सदैषा
विश्वप्रपञ्चप्रथनैकहेतुः ॥'

तथा भगवदिच्छैव तथात्वेन प्रजायते ।

योगिनामिच्छामात्रेण[1] नानागृहादिरूपाणामुपपत्तिता क्रियात्मत्वमासाद्यते इति शेषः । न च मृत्काष्ठादि तेषां तक्षादीनामिव किंचित्साधनमस्ति परमेश्वरेच्छातिरिक्तम् । तद्रूपतापत्त्या हि ते[2] निर्मिमते । तथा भगवदिच्छामात्रमेव विश्वरूपत्वं संपद्यते ।। ४४ ।।

दृष्टमुदाहरणमाह[3]--

दृश्यन्तेऽत्र तदिच्छातो भावाः कामादियोगतः ।। ४५ ।।

तत्र मिथ्यास्वरूपं चेत्स्थाप्याग्रे सत्यतेदृशाम् ।

कामशोकभयादियोगाच्च ते ते भावाः पुरः[4] स्फुरन्तो दृश्यन्ते । तत्र भगवदिच्छैव[5] कारणं तावत्यंशे भावनावशादीश्वरतावेशात् । न च तत्र चौरादयो मिथ्यारूपा भान्ति–यतोऽग्रे सत्यत्वमीदृशानामवश्यं स्थापनीयम् ।। ४५ ।।

इति भट्टदिवाकरवत्सोक्तनयेन यद्यपि स्वप्नसंकल्पकामशोकादिविषयपरिदृष्टभावाभासनिर्माणसामर्थ्यं संविद एवानुभूयते, तथापि घटादेः प्रसिद्धमृदादिकारणपरम्परापराकरणेन तदत्रासत्यं घटादीति केचन विप्रतिपन्नास्तान्प्रति योगिदृष्टान्तेनेच्छानिर्माणं समर्थयति । १ योगी हि पुरसेनादिनिर्माणमिच्छावशादेव करोतीति सिद्धम् । तत्र हि तदिच्छया झटिति संघटिताः परमाणव उपादानमित्युच्यमाने यदि प्रसिद्धो घटसंपादकः समस्तकर्मशिक्षाधर्माधर्मदण्डादिसहकारिसहितः स्वोपादानोचितः कपालादिकारणकलापोऽभ्युपेयते, तत्कुलालविशेष एवायं योगीत्यायातम् । अहो तर्हि तस्य योगिनो योगित्वमिति तत्र तदुल्लङ्घनमेवेत्याह इच्छामात्रेणोपपत्तिता क्रियात्मत्वमासाद्यत इति ।

२ योगिनश्च शरीरप्राणाद्यारूषितमपि चैतन्यं तावन्नैर्मल्यान्निर्मातृ स्वशरीरप्राणादिसहितप्रमात्रन्तरापेक्षया बाह्यत्वेन तस्यार्थस्य चित्तत्त्वमेव सर्वत्र निर्मातृ । ३ प्रत्यक्षसिद्धम् । ४ प्रत्यक्षत एवार्थक्रियाकारित्वात् । ५ भगवदिच्छेति, चित्तत्वं यतः स्वात्मरूपमहमित्यनन्यापेक्षप्रकाशविमर्शं ततस्तस्य यदाभासनं, तत्तावदुपपन्नं न प्रयत्नसाध्यं तदभेदिनश्च भावराशेः प्रकाशात्मत्वादुपपन्नमाभासनमित्यर्थः ।

एवमेतदप्यग्रे वक्ष्यते इत्याह--

एवं सर्वेषु भावेषु यथा सा शिवरूपता ।। ४६ ।।

नीरूपता निर्वृतिर्वा शक्तित्रितययोगिता ।

सचित्त्वं संस्थितं नित्यं कथनीयं तथाग्रतः ।। ४७ ।।

उक्तं तावत्--

'पदार्थत्वेन भगवान्……… ।' (४१)

इत्यादिना तत्त्वभूतमुखेन सर्वस्य शिवरूपत्वम् । इदानीं यथा घटपटादिष्वपि भावेषु शिवता, तद्रूपत्वाच्च[1] परिमितरूपैर्नीरूपत्वं, निर्वृतिः[2], इच्छादि-योगिता, सचित्त्वमजडत्वं च सम्यगेव स्थितमुपपन्नम्[3], तथाग्रतोऽवश्यं कथनीयम् ।। ४७ ।।

एवं स्थिते[4] यद्भवति, तदाह--

एवं सर्वपदार्थानां समैव शिवता स्थिता ।

परापरादिभेदोऽत्र[5] श्रद्धानैरुदाहृतः ।। ४८ ।।

परमशिवात्प्रभृति घटाद्यन्तानामपि पदार्थानां समैवान्यूना अनतिरिक्ता च शिवता पूर्णचिद्रूपानतिरेकान्नियता[6] सर्वेषां तथा सामरस्यासादनात् क्वापि स्थितिः[7] स्यादित्यर्थः । एवं च सर्वस्य शिवरूपसामरस्यात् तदख्यातिमयशुद्ध्यशुद्धिरूपपरापरादिभेदो भावानामुक्तः । तत्र श्रद्धामात्रेणोपपत्तिरहितेन जन्तूनां, न तु वस्तूनां शुद्धिरशुद्धिर्वा काचित् ।। ४८ ।।

एवं सर्वेषां सत्यत्वमाह--

---

१ तत्र सर्वेषां भावानां तथा शिवता भवति, यदि तद्धर्मयोगस्तत्रापि भवति, नान्यथा,–इत्यतः सर्वं तत्समर्थकं समर्थयति तद्रूपत्वादिति । २ कर्मावच्छिन्ना औन्मुख्यरूपा । ३ युक्त्यानुभूतम् । ४ सर्वपदार्थानां सर्व-शक्तिसंपूर्णशिवत्वे स्थिते । ५ ननु यदि संपूर्णैव तेष्वपि शिवता, तत्कि-मित्यागमेषु परापरादिभेदो नियमेन कथ्यत इत्याशङ्क्याह परापरेत्यादि । ६ सर्वस्य पदार्थजातस्यावश्यंभाविनी । ७ ननु च भवतु सर्वत्र पूर्णशिव-तत्त्वोपयोगस्तथापि स्वात्मनि स्थितत्वात्कश्चमत्कारातिशय इत्यत आह स्थितिरिति । योगिनो हीदृशी यदि स्थितिस्तदा सर्वचमत्कार एवेत्यर्थः ।

एवं भेदात्मकं नित्यं शिवतत्त्वमनन्तकम् ।
तथा तस्य व्यवस्थानान्नानाऽरूपेऽपि सत्यता ।। ४९ ।।

उक्तक्रमेण[1] भेदात्मकं, न तु[2] भावभेदपृथग्भूतम् । भेदा अपि तदात्मकाः[3], अत एव तदनन्तकं भिन्नार्थसद्भावे सति अन्तः स्यात् तद्रूपानाक्रमणात् । एवं व्यवस्थानस्वभावत्वात् तस्य परमेश्वरस्य नानारूपेऽपि विश्वस्मिन् सत्यतैवेति ।। ४९ ।।

इति श्रीशिवदृष्टौ श्रीमदुत्पलदेवप्रभुपादनिर्मितायां वृत्तौ
प्रथममाह्निकम्

---

१ रूपप्रसाररसत इत्यादिना । २ अनेन न तेषां स्वकीयं रूपं किंचिदिति द्योतितम् । ३ ननु भेदोऽपि भाति, किं चात्र शरणमित्याह तदात्मका इति ।

अथ

द्वितीयमाह्निकम्

ईश्वराद्वयवाद[1] एव युक्तियुक्तो[2], न तु शब्दपरब्रह्माद्वयवाद इति वक्तुं, वैयाकरणोपेतशब्दाद्वैतं तावन्निराकर्तुमुपक्रममाण आह––

अथास्माकं[3] ज्ञानशक्तिर्या सदाशिवरूपता ।
वैयाकरणसाधूनां पश्यन्ती सा परा स्थितिः ।। १ ।।

पश्यन्ती यद्यपि[4] नादरूपतया विश्वमामृशन्ती क्रियाशक्तिरूपतया समन्विता, तथापि पश्यन्ती इति दर्शनप्राधान्यात् उपचरिज्ञानशक्तिरूपत्वेऽप्याश्रीयमाणे[5] परमशिवरूपताया अत्यन्तदूरर्वातिनी न तु पर्यन्त-

---

१ तदेवमियता सर्वशासनार्थसंक्षेपार्थसूचकेन पीठिकाबन्धरूपेणोपोद्घातपरेणानेन प्रथमाह्निकेन परमेश्वर एक एव तावत् स्वरूपप्रसारेण परापरादिरूपतया भासते, तथात्वेऽपि न खण्डितव्यपदेशव्यवहार्यः। तथाहि–परावस्थायां तावत्पूर्णानन्दस्वभाव एव, परापरायामपि रूपप्रसाररसादेव न काचन विकल्पकलङ्ककल्पना, अपरावस्थायां पुनः प्राकृतप्रजायामपि च तस्य सहजप्रकाशबोधोऽस्तीत्यपि समर्थितम्। तदेतत्त्रिधात्वमप्यन्यवादिमतेऽनुपपत्त्या समर्थितमपि शिथिलितमिव भाति। तस्मिन् हि निरसिते सर्वमिदं मेघावरणविगमेनेव स्वप्रकाशभानुकिरणवृन्दमत्यन्तस्वच्छं भासते नान्यथा, पांसुपातेन हि न मणेर्महार्घतापगच्छति, परं मलिनो भाति। तत्र प्राधान्येनेह परब्रह्माद्वयवाद एव निरसनीयः, प्रसङ्गागतस्य च शब्दब्रह्माद्वयवादस्य निरसनं तावत्तण्डुलशुद्धाविव कणनिरसनमिति तन्निरसनायाह न शब्दब्रह्मेत्यादि। २ अनुभवानुवर्ती सत्तर्कप्रकारो युक्तिः। ३ अथेति स्वसिद्धान्तकथनानन्तरं परप्रक्रियारम्भे। ४ ज्ञानशक्तौ हीच्छायां यद्बीजतयावस्थितं तदेव विकसितं, ततश्चात्रामर्शासंभवात् कथं ज्ञानशक्तित्वमिहाप्युक्तं ज्ञानदर्शनयोग्यतेत्यत्र योग्यतेति, ततश्च कथमुक्तं ज्ञानशक्तिः पश्यन्तीति मत्वाह यद्यपीति। ५ अपिशब्दोऽत्रोपरोधेनैव ज्ञानशक्तित्वं न तु वस्तुत इति द्योतयति।

दशासौ ज्ञानशक्तेः सदाशिवरूपत्वात् परापरव्यवस्थात्र। तेषां पुनः सा परावस्था मता। सदाशिवरूपत्वे[1] च क्रियाशक्तिरपि न परित्यक्ता। यदुक्तं—

'ज्ञानक्रिये सादाख्यम्'

इति। शक्तिशक्तिमतोरभेदात्[2] ज्ञानशक्तिमान् सदाशिवः, उद्रिक्तक्रियाशक्तिरीश्वर इति। अत[3] एवेच्छाशक्तिमयः शिवो यावच्चित्स्वातन्त्र्यशक्तिमान् पर्यन्ते परमशिवः। अत्रान्तरे चौन्मुख्यनिर्वृत्यपेक्षयाधिकतत्त्वसंभवः। तदस्तु, मा वा भूत्, नैतदिह मुख्यवृत्त्या प्रतिपाद्यम्, अत एवाधिकशक्तिप्रदर्शने कृतेऽप्युक्तं 'षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपतां बिभ्रत्' इति। शिवभेदतात्पर्यं[4] तु न खण्ड्यत इति नियमः। मायोत्तीर्णेऽप्यध्वनि[5] विद्योन्मेषेऽपि कार्ममलानुल्लासात् संसारासंपर्केऽपि परमेश्वराभेदाख्यातेः सर्वथैवाविच्छेदादागमावगतेश्वरेच्छावशोत्थपरापरदशाव्यपदेश्योक्ततत्त्वोपगमः[6]। वैयाकरणसाधूनामिति साधूग्रहणमेषां[7] जाड्यख्यापनाय। परमपि हि रूपं यदि पश्यन्त्याः यदुक्तं—

'प्रतिलब्धसमाधाना[8] च।'

इति,

'विशुद्धा[9] च।'

---

१ ननु यदि भवद्भिः पश्यन्त्या नादशक्तिरूपतया क्रियाशक्तिरेवाभ्युपगतया येन यद्यपीत्याद्युक्तं, सूत्रकारेण कथं ज्ञानशक्तिः सदाशिवरूपतेति महानयं स्वकटकक्षोभः संपन्न इत्याशङ्क्याह सादशिवरूपत्वे चेतिः ज्ञानशक्तियोग्यता क्रियाशक्तिप्रारम्भः सदाशिवत्वमित्यर्थः। २ ननु ज्ञानशक्तिः सदाशिवतेति कोऽयं निर्देश इत्यत आह शक्तीति। ३ प्रसङ्गागतमाह अत एवेति। ४ ननु किं तर्हि अत्र प्रतिपाद्यं सर्वथा हि निःशेषतः कथिते प्रकृतं साध्यं सिध्यत्यत आह शिवाभेद इति, सर्वथा हि शिवाभेदतात्पर्यमिह साध्यमिति नियमः। तच्च, अस्तु वाधिक्यं मास्तु वा, न खण्ड्यत इत्यर्थः। ५ ननु व सर्वत्र हि मायाया उच्छेद एवाङ्गीकृतः, स च ज्ञानशक्तावप्यस्ति ततोऽलमनेन ज्ञानशक्तिरस्माकं तेषां परा स्थितिरिति शङ्कित्वाह मायोत्तीर्ण इति। ६ तेन नात्र परतत्त्वस्थितिरित्यर्थः। ७ यथा लौकिकेऽपि अत्यन्तमूर्खेऽपि साधुरयमिति। ८ केवलशब्दार्थरहितस्वरूपसमाहितिः। ९ ग्राह्यग्राहककल्लोलरहिता।

इति,

'प्रशान्तप्रत्यवभासा[1] च ।'

इति, अन्यद्वा अपि अतोऽधिकतरं प्रकृष्टरूपमस्याः स्यात्; तथापि सरो[2] रस इति मध्यमायामुन्मिषतः क्रमस्य कारणभूतायां तत्क्रमशक्तिरस्त्येव । यदुक्तं--

'प्रतिसंहृतक्रमाप्यन्तः सत्यपि अभेदे समाविष्टक्रमशक्तिः पश्यन्ती ।'

इति । ततो न सा पूर्णा[3] पर्यन्तदशेति कथं तस्याः परस्थितिरूपता, परब्रह्मरूपता, शब्दब्रह्मरूपता ॥ १ ॥

तथा[4] च त एवमाहुरित्याह--

इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाक्षयम्[5] ।
तदक्षरं[6] शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा[7] हि वाक् ॥ २ ॥

यदनादि अनन्तं च परं ब्रह्म चिद्रूपं तदक्षरं निर्विकारं शब्दरूपम् । सैव च पश्यन्तीसंज्ञा परा वाक् । वाग्रूपतां[8] विना परब्रह्माख्यश्चित्प्रकाशोऽपि न प्रकाशेत । सा हि प्रत्यवमर्शिनी । प्रत्यवमर्शनमेव[9] च प्रकाशनमुच्यत इत्याहुस्ते ॥ २ ॥

---

१ गलितबाह्यविकल्पावभासा । २ तथापीति मूलभूतत्वात्तस्या यदि तस्यां सूक्ष्मक्रमकलना न स्यात् तर्हि सरो रस इत्यत्र क्रमस्मरणे निमित्ताभावादुत्क्रमणेन स्मरणं मन्तव्यं, तत्र हि एकस्मृत्यूपारूढानां वर्णानामार्थावबोधकत्वमुक्तं, तच्च सति कारणे तादृक्प्रतिभासे भवति नान्यथेत्यर्थः । ३ अन्तःसमाविष्टक्रमत्वात् । ४ ननु च पश्यन्ती तादृश्यस्तु तस्याः कथं तत्र विवादः, ततोऽन्यापि काचिदस्त्यक्रमा इत्यत आह एवमिति, पश्यन्त्या एव परब्रह्मशब्दब्रह्मरूपतेत्यर्थः । ५ अक्षयमन्तरहितम् । ६ अक्षरं-कल्पनोज्झितम् । ७ सर्वतः पूर्णत्वात्सूक्ष्मा । ८ ननु वाचः प्राणस्पन्दात्मकत्वात्कथं शब्दरूपमेव परं ब्रह्मेत्यत आह वाग्रूपतामिति ।

'वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
नाप्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥'

इति भर्तृहरिपादाः ।

९ यद्यपि परं ब्रह्म चित्प्रकाश एवाभ्युपगतस्तथा चात्र कथं शब्दरूपता, तथात्वे हि तत्प्रकाशतैव न कथंचन सिध्यति इति कैवोक्तिर्वाग्रूपतां

स एव चात्मेत्याह--

स[1] एवात्मा सर्वदेहव्यापकत्वेन वर्तते[2] ।
अन्तःपश्यदवस्थैव चिद्रूपत्वमरूपकम्[3] ॥ ३ ॥

या अन्तः पश्यदवस्था[4] भोक्तृतारूपा ज्ञेयरूपशून्यं चिद्रूपत्वं चैतन्यमात्रं स एवात्मा कथ्यते, सर्वदेहव्यापकस्तद्भोगायतनावस्थितो[5] भोग्यं भुङ्क्ते ॥ ३ ॥

स एव[6] परमात्मा सर्वज्ञ इत्याह--

तावद्यावत्परा[7] काष्ठा यावत्पश्यत्यनन्तकम् ।

अभ्यासप्रकर्षात्तथा काष्ठा[8] प्राप्ता सा पश्यन्त्येव भवति, यथा अनन्तं सर्वमेव विश्वं पश्यति येन दर्शनक्रियार्थोऽस्याः पूर्यते ॥ ४ ॥

तदैवाविद्योपशमात् परमार्थोऽसावित्याह[9]--

अक्षादिवृत्तिभिर्हीनं[10] देशकालादिशून्यकम् ॥ ४ ॥
सर्वतः क्रमसंहारमात्रमाकारवर्जितम्[11] ।
ब्रह्मतत्त्वं परा काष्ठा परमार्थस्तदेव[12] सः ॥ ५ ॥

विनेत्यादि । न, चिद्रूपस्य यच्चिद्रूपत्वं तदेव वाग्रूपतेति यतस्तन्मतमित्याह प्रत्यवमर्शनमेवेति । १ नन्वस्त्वेतादृग्लक्षणं शब्दब्रह्मानाद्यन्तं पूर्णं, तथापि कस्य बन्धः कस्य मोक्षः, तदर्थमेव व्यवहारप्रवृत्तिरिति तावद्भोक्तारं बन्धमोक्षाधिकारिणमविद्योपरागात् स्वतःस्वच्छं समर्थयति स एवेति । २ भोग्यं प्रति प्रवर्तते । ३ ज्ञेयेदन्ताविषयम् । ४ भोक्तृरूपत्वेन तस्यावस्थितिस्तेनावस्थैव तावज्जीवता सिद्धा । ५ तस्य भोक्तुः । ६ अवस्थाया अवस्थातुरव्यतिरिक्तत्वाद्भोग्यरूपावस्थानिवृत्तौ पुनरपि केवलमवस्थातैवावशिष्यत इत्याह । ७ अत्र परा काष्ठा इत्यावृत्तिपक्षेण योजनीयम् । तथाच यावत्परा काष्ठा प्राप्ता, तावदेवानन्तकं पश्यन्तीमयमेव सर्वं विश्वं पश्यति । यावदित्यवधारणे, ततः परा काष्ठा पश्यन्त्येव भवतीत्यर्थः । ८ भोग्य प्रवृत्तिरहिता च । ९ अविद्यालक्षणं तदवस्थारूपं भोक्तृतालक्षणं संसारिणं जीवमुपपाद्य तदनुषङ्गेण च शुद्धमपि परमात्मलक्षणं सर्वज्ञमुपपाद्य परमुपेय इत्याह परमार्थोऽसावित्यादि । १० सर्वतोऽवच्छेदविरहात् । ११ ग्राह्यग्राहकाकारेण, नियतस्वरूपत्वस्यादिना गृहीतत्वाद् । १२ एवकारो भिन्नक्रमः स इत्यन्तरं योज्यः ।

तदार्थप्रकाशनव्यापार इन्द्रियाद्यालोचनाद्युपायोपयोगो नास्ति देशकालजात्यवच्छेदश्च[१], अत एव सर्वतो देशात् कालाच्च यः क्रमस्तदुपपदेशमात्रं ब्रह्मतत्त्वं क्रमस्यैव[२] संसाररूपत्वात्, अतश्च सर्वग्राह्यग्राहकाकारवर्जितं, ततः परतरस्याभावात्[३] पराकाष्ठा, प्राप्तं तत् स एव च परमार्थः पश्यन्तीरूपः ॥ ५ ॥

स एव च पुनरेवं भवतीत्याह—

आस्ते विज्ञानरूपत्वे स शब्दोऽर्थविवक्षया ।
मध्यमा कथ्यते सैव बिन्दुनादमरुत्क्रमात् ॥ ६ ॥

स एव पश्यन्तीरूपः[४] शब्दोऽर्थप्रतिपादनेच्छारूपया विवक्षया उपलक्षिते मनोविज्ञानरूपत्वे[५] आस्ते[६] । सैव च मध्यमा वाक् कथ्यते क्रमेण[७] बिन्दुनादसंज्ञप्राणापानवायूल्लासात् 'प्राणापानान्तरे नित्यमेका[८] सर्वस्य तिष्ठति ।' इति ॥ ६ ॥

पुनरप्येवमास्त इत्याह—

संप्राप्ता वक्त्रकुहरं कण्ठादिस्थानभागशः ।
वैखरी कथ्यते सैव बहिर्वासनया क्रमात् ॥ ७ ॥
घटादिरूपैर्व्यावृत्ता गृह्यते चक्षुरादिना ।

---

१ देशकालादयः शून्याः अत्रेति देशकालादिशून्यकं तेषामपि तदनतिरिक्तवृत्तिकत्वादत एव वृत्तौ देशकालजात्यवच्छेदश्चेत्युक्तम् । २ क्रम एव संसारस्तेन तदात्मत्वेऽपि क्रमाभावात्तच्छून्यत्वम् । ३ अन्यस्याधिकस्य । ४ अथेदानीमादौ पारमार्थिकं पश्यन्तीस्वरूपमुक्त्वा, तदनन्तरं जीवपरमात्मपरस्थितीर्निगमय्य, पुनस्तत्प्रसरक्रमेण व्यावहारिकीं संसारस्थितिं प्राह येनायं ग्राह्यग्राहकाडम्बरो विवर्तमान आस्ते इति स एवेत्याशङ्कापूर्वकम् । ५ मनोविज्ञानरूपत्व इत्यनेन पश्यन्तीरूपस्य शब्दस्य यैवार्थप्रतिपादनेच्छा विवक्षारूपा, तदेव मनोविज्ञानरूपत्वं, स एव पश्यन्त्याममेदस्थितौ सत्यामपि क्रमोल्लासः, सैवान्तःसंजल्परूपा मध्यमेति सूचितम् । ६ स्थितिं भजते । ७ तेन प्रागापानवायूल्लास एव क्रमाभास इत्यर्थः । ८ पश्यन्तीरूपा सुषुम्णा ।

९ 'अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥'

अत्रापि बिन्दुनादमरुत्क्रमात् सा पश्यन्ती संप्राप्ता वक्त्रकुहरमिति योज्यम्। तदुक्तं—

'प्राणो वर्णानभिव्यज्य वर्णेष्वेव प्रलीयते।' वाक्यप० १।११६

इति। ततो वक्त्रोदरं प्राप्ता कण्ठादिस्थानभागेषु विभक्तककारादिवर्ण-रूपा वैखरी वर्ण्यते—

'स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा।
वैखरी वाक्प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धना॥'

इति। परतोऽपि बाह्यार्थवासनया अविद्यारूपया क्रमेण घटपटाद्याकारै-र्विवृत्ता सैव वाक् चक्षुरादीनां ग्राह्यभावमापद्यते॥ ७॥

तथा ते प्राहुरित्याह—

यस्मात्तैरुच्यते सद्भिरेव वस्तुप्रवृत्तये॥ ८॥
अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं[1] यदक्षरम्।

---

१ शब्दोपग्राह्यतया शब्दोपग्राहितया च शब्दतत्त्वम्, तथाहि सर्व-प्रत्यय उपजायमानो नानुल्लिखितशब्दक उपजायते, तदुल्लेखविरहिणोऽ-नासादितप्रकाशस्वभावस्य निर्विषयत्वात्, इदमीदृशमित्यादिपरामर्शः मुषितवपुषि वेदने वेदनात्मकतैव न भवेत्, अतः शब्दोन्मेषप्रभावप्राप्त-प्रकाशस्वभावत्वात् सर्वप्रत्ययानां शब्दानुविद्धबोधकत्वमिति सर्वं शब्द-तत्त्वमिति निश्चयः। ततश्च शब्दतत्त्वमेवार्थभावेन विवर्तते, तथाहि शब्दाख्यविशेषानुवेधवन्ध्यबोधविशेषाननुभवात् सर्वं निर्विकल्पकं सवि-कल्पकं वा ज्ञानं शब्दविशिष्टमर्थं भासयति। गौः शुक्लो गच्छति,—इति जातिगुणक्रियावच्छिन्नविषयावभासिनि प्रत्यये शब्दविशिष्ट एवार्थः परि-स्फुरतीति। शब्दाख्यविशेषानुरक्तस्य तस्य विशेष्यस्य स्वरूपं पृष्टः शब्द-मेव दर्शयति। शब्दापरित्यागलब्धप्रकाशस्वरूपयैवानुभूत्यानुभवामीति सोऽपि विशेष्यः शब्दस्वरूप एवेति। तदेवं शब्द एवार्थोपारूढः प्रतिभा-तीति व्यवतिष्ठते। इत्थं यदुपारूढः शब्दः प्रकाशते, तस्य पृथक् प्रदर्शयि-तुमनुभवितुं चाशक्यत्वाच्छब्द एव तथा तथा प्रतिभाति—इति शब्दविवर्त एवायमर्थो नान्यः कश्चिदिति। अतश्च शब्दब्रह्मेदमेकमविद्योपाधिदर्शित-विचित्रभेदमविद्योपरमे यथावस्थितस्वरूपं प्रकाशत इति स्थितम्।

विवर्ततेऽर्थभावेन[1] प्रक्रिया जगतो यतः ।। ९ ।।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ।। १० ।।

अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा ।

इत्यादिवाक्यरचनैस्तैरेवं प्रतिपादितम् ।। ११ ।।

यस्मात्तैर्वैयाकरणैः सद्भिः साधुभिर्मुग्धैरेवमुक्तरूपं प्रतिपादितं पश्यन्ती रूपं शब्दतत्त्वमक्षरमनाद्यन्तं ब्रह्म विश्वार्थभावेन विवर्तते तदसत्यरूपमात्मन्युपगच्छति[3], असत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तस्तस्यास्तत् विवर्तते, यतो विवर्तनात् प्रक्रिया भावभूतभुवनादिविन्यासवैचित्र्यमिति । तथा न स घटपटादिप्रत्ययो लोकव्यवहारेऽस्ति, यो वाचकशब्दानुगमवर्जितः वाग्रूपतां विना न ब्रह्मतत्त्वप्रकाशोऽपि प्रकाशेत, 'सा हि प्रत्यवमर्शिनी ।' इति। तथैवंभूते पश्यन्तीरूपे शब्दाख्ये[4] ब्रह्मणि यो निष्णातस्तेन[5] परं ब्रह्माधिगतं भवतीति । तथा तच्च पश्यन्तीरूपं ग्राह्यग्राहकविभागक्रमरहितम्,

---

१ शब्दब्रह्मैवेदमनाद्यविद्यावासनोपप्लवमानभेदमर्थभावेन विवर्तते, न तु वाचकादपि विभक्तं वाच्यमपि नाम किंचिदस्ति, काल्पनिक एव वाच्यवाचकविभागोऽयमविद्यैव विद्योपाय इत्याश्रीयते, वाग्रूपता तु तत्त्वं सर्वत्र प्रत्यये तदनपायात् ।

२ 'अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा ।
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी ।।
केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी ।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक्प्रवर्तते ।।'

इति । ३ अङ्गीकरोति । ४ शब्दाख्ये शब्दस्वरूपे ब्रह्मणि निष्णातोऽभ्यासप्रकर्षात्परधारारूढस्तेन परं ब्रह्माधिगतं स्वतोऽवगतं भवति, न शब्दब्रह्मपरब्रह्मणोर्भेद इत्यर्थः । यथोक्तं—

'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ।।'

इति । ५ कृताभ्यासः ।

अविभागा तु पश्यन्ती देशकालक्रमसंहारवती चेति आदिग्रहणात् प्राक्प्रदर्शितमध्यमावैखर्यादिवाक्यरुक्तमिति[१] ॥ ११ ॥

तदिदानीं विचार्यत इत्याह––

तद्विचाराय[२] राद्धान्तः[३] संप्रत्येष विधीयते ।

वैयाकरणोक्तविचारार्थं सिद्धान्तो वक्ष्यमाणो युक्तियुक्तत्वात्[४] यः, स परिनिष्ठां[५] प्राप्यते ॥

तथाचेत्याह––

आदौ[६] तावदिन्द्रियत्वे स्थिता वाक्कर्मसंज्ञिते ॥ १२ ॥

तस्यात्मता ब्रह्मता वा वक्तुं शक्या न साधुभिः ।

---

१ विखरः शरीरस्तत्र वर्तमाना। २ एवं स्वसिद्धान्तस्थापनार्थं शब्दाद्वैतब्रह्मवादितमुपन्यस्तं, तत्र तु प्रथममेव तदनुपपत्तिः सूचिता 'अथास्माकम्' इत्यादिना। अधुना तत्तादृशमपि न युक्तियुक्तमित्येतदर्थमारम्भः। ३ राद्धान्तः पूर्वप्रसिद्ध एव, न तु स्वबुद्धिकौशलेनापूर्वतया कल्पित इत्यर्थः। यदि च स सिद्धान्तः स्वयमेव, तर्हि तत्राक्षेप्तव्यनिराकर्तव्यायोगात्कृतमनेनेत्यत आह विधीयत इति। पूर्वसिद्ध एव वादिविप्रतिप्रत्त्यासिद्धकल्पः तन्निरसनेन परिस्थाप्यत इत्यर्थः। ४ युक्तियुक्तत्वमेव सिद्धान्तत्वम्। ५ परिनिष्ठां पर्यन्ततः स्थितिम्। ६ इत्थमत्र संबन्धः–– तस्यात्मनो ब्रह्मणो वा आत्मतात्मनो भावः स्वभावः, तथा ब्रह्मता तत्स्वभावो वक्तुं न शक्या। अत्र हेतुरतिस्थूलकर्मेन्द्रियरूपत्वात्तस्याः। तत्र यद्वाचस्त्रैविध्यं तैरुक्तं, तदननुमत्यैकत्वमेव वैखरी रूपमाश्रित्य प्रत्याचष्टे आदौ तावदित्यादिना। तथा हि एकैव वैखरी वाक् वागिति लोके प्रसिद्धा, अन्यत्र ह्यन्ययोर्द्वयोरपि निरसनमुक्तम्।

'अन्तःसञ्जल्पो वर्ण्यते मध्यमा वाक्
सेयं बुद्ध्यात्मा नैष वाचः प्रभेदः।
बुद्धिर्वाच्यं वा वाचकं वोल्लिखन्ती
रूपं नात्मीयं बोधभावं जहाति ॥'

तथा 'पश्यन्तीति तु निर्विकल्पकमतेर्नामान्तरं कल्पितं
विज्ञानस्य हि न प्रकाशवपुषो वाग्रूपता शाश्वती।'

इति।

प्रथमं तावद्वाचोयुक्तिरेवैषा[1] विरुद्धा। तथा हि वाक् स्थिता अतिस्थूलकर्मेन्द्रियत्वे, बुद्धीन्द्रियस्य बोधोपयोगोऽपि भवेत्, तस्य पर्यन्तवर्त्तिन आत्मनो ब्रह्मतत्त्वस्य वा संबन्धी स्वभावो भवेत्, तस्मात् तैः पूर्ववत्साधुभिस्तद्रूपत्वं वक्तुमेव न शक्यम्॥ १२॥

तस्या[2] अविद्यायां स्थितत्वात् पाणिपादादिव्यावृत्त्या परमार्थत्वं न युज्यत इत्याह--

इन्द्रियत्वेऽपि सामान्ये पाण्यादेर्ब्रह्मता न किम्॥ १३॥
तत्र चेत्सूक्ष्मकलना[3] सर्वत्र कलनाग्रतः।

वाचः सूक्ष्मपश्यन्तीरूपतया ब्रह्मता अस्ति, तेनैसोक्ता इति चेत्, सा सत्यरूपता सर्वत्र पाण्यादौ[4] घटादावपि चाग्रे कलयिष्यते॥ १३॥

अथ[5] वाग्व्यपदेशोऽपि ध्यानावस्थायां हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यादिस्थानान्तराक्रमणात् तस्या उत्कर्षो, न तु पाण्यादेरेवमस्तीत्याह--

अन्तः क्रमो हृदादेश्चेत्प्राणादेः किं न सत्यता॥ १४॥
सर्वस्यान्तःपरामर्शपूर्णतास्ति प्रवर्तते।

प्राणापानसमानोदानादेरपि हृदाद्याक्रमणात्सत्यता स्यात्। सर्वस्य चार्थस्य प्रवृत्तिकालेऽन्तःपरामर्शोऽस्ति। नहि पश्यन्त्यभिमतावस्थायां शब्दस्येव शब्दार्थस्यापि[6] न परामर्शः केवलमभेदेनेति सर्वं तथा स्यात्॥ १४॥

अथ[7] वाचः सिद्धिप्रदत्वादिनोत्कर्ष इत्याह--

---

१ ब्रह्मत्वनिरूपणात्मिका। २ तस्या वाचः। अयमत्र भावः--यदि वाचः पाण्यादिसामान्यत्वेन वर्तमानाया ब्रह्मता, तदा तत्र किमाधिक्येनान्यत्र कथं नेति, यदि तद्व्यावृत्त्या विशेषरूपत्वेन, तदपि नेत्याह परमार्थत्वं न युज्यत इति। ३ ततश्चात्मता ब्रह्मता वा। ४ ततश्चैतदुक्तं भवति--किमिति तत्रैव ब्रह्मता, न पाण्यादौ, नापि घटादौ। साहि सत्यता सर्वत्रास्तीत्यतः किमत्रैव हेतुरित्यर्थः। ५ कर्मेन्द्रियसमानत्वेऽपि चास्याः शक्तित्वादीदृक्त्वं, पाण्यादेस्तदभावान्नेदृक्त्वमित्याशयेनाह। ६ यथा तत्र शब्दस्य परामर्शोऽस्त्येव, न नास्तीति, तथा शब्दार्थे स्याप्यस्त्येवेत्यर्थः। ७ पुनरपि कर्मेन्द्रियसाम्यतायामपि वाच एव एवंविधत्वादुत्कर्षः, न पाण्यादेरिति तथात्वमस्याः, न परस्येत्याशङ्कापूर्वकं प्रत्याचष्टे।

अत्रोपासनया सिद्धिर्देवतायोगितेति चेत् ॥ १५ ॥
योगशास्त्रेषु सर्वेषां देवतासिद्धियोगिता ।

ये वै वाचमुपासते, तेषां तद्विदां सिद्धिरुक्ता, वागीश्वरी चाधिष्ठातृदेवता तत्रास्तीति सा सत्या,—इत्येतदपि न, योगशास्त्रादिषु अधिष्ठातृदेवताः, करणानां महाभूतानां च धारणावशात् सिद्धयोऽपि। ततस्तत्रापि प्रसङ्गः ॥ १५ ॥

ते[१] नैतन्मन्तव्यमित्याह[२]—

तस्माद्धिरण्यगर्भादियोगसांख्येतिहासताम् ॥ १६ ॥
विहाय शास्त्ररचना[३] जातुचिन्न विराजते ।
पाण्यादीन्द्रियवन्नैतद्ब्रह्म वागिन्द्रियं भवेत् ॥ १७ ॥

तस्माद्ब्रह्मादिप्रणीतयोगशास्त्रसांख्यानामितिहासरूपं, तदुक्तमर्थं प्रपञ्चयत् शास्त्रं[४] कार्यं, तदितिहासात्मतां विहाय स्वमनीषिकया शास्त्ररचना न शोभते। एवं च[५] यथा पाण्यादीन्द्रियमनादिशास्त्रसिद्धत्वान्न ब्रह्मरूपेण युक्तं विरच्यते[६], अपितु तदनुसारेणैव, तथा वागपि[७] ॥ १७ ॥

सांख्यादेरपि[८] कथमनादित्वमित्याह—

अथोच्यते प्रक्रियासौ सांख्यादिरचिता न सा ।
तत्त्वोन्मेषप्रसरणे भवेत्संबन्धभागिनी ॥ १८ ॥

---

१ सत्यतापत्तिः । २ यतो भवन्मते तिलशोऽपि युक्तिसाधिते न कथंचनोपपत्तिरुपलभ्यते, तस्माद्भवद्भिरेतदस्मत्कथनमादर्तव्यमित्यर्थः । ३ नवप्रपञ्चरूपा । ४ तेन तस्यैव तदुक्तस्य विविच्य सविस्तरं कथनं शास्त्रमित्यर्थः । ५ ततोऽपि किमित्याह एवं चेति । ६ नवीनैस्तस्येन्द्रियत्वेन कथितत्वात् । ७ वागपि ब्रह्मरूपतया न विरचनीयेत्यर्थः । ८ ननु चास्तु ब्रह्मप्रणीतत्वाद्वेदस्य प्रामाण्यं, तत्र च वाग्ब्रह्मेत्यपि कथितं ततश्च कथमत्र विरोधः, सांख्यादेः पुनः कपिलादिप्रणीतत्वादस्मदीयशास्त्रवदादिमत्त्वमेव, कथं तदुक्तं प्रामाण्यं भजेत्, तत्र हि सर्वत्र वाच इन्द्रियत्वमेव समर्थितमित्याशङ्कां गर्भीकृत्याह सांख्यादेरपीति ।

विमर्शानुभवेनैषा[1] यथा वाक् प्रथमं श्रिता ।
लक्ष्यते बोधरूपेण न तथा चरणादिकम् ।। १९ ।।
इति चेच्चर्च्यतां तावत्पश्यन्ती युज्यते यथा ।

सांख्यादिसिद्धान्तेषु रचना वाक्कर्मेन्द्रियमिति प्रणेतृसंबन्धिकल्पनामात्रमेतत्, न तु परमार्थसंवित्पर्यालोचनस्पर्शोऽस्ति । न च प्रक्रिया परमार्थविचारेषु संबद्धतां याति । तथा हि सर्वेऽर्थाः संविदि प्रतिष्ठामुपयान्ति, असंविदिता असन्त एव । संविच्च विमर्शशून्या संविदेव न भवति । ततश्च समस्ततत्त्वसारस्वरूपोऽयं विमर्शोऽनुभूयमानोऽभिलापमय एवेति वाचा सह का स्पर्धा पाण्यादीनाम् । बोधमयो हि अर्थसत्ताप्रारम्भः, बोधश्च विमर्शात्मा प्रथमं वाचैवानुविद्धो, न तु पाणिपादादिना इति चेत्, तदेवमपि[2] बोधो विमर्शात्मा वाङ्मय एवेति । आस्तामन्यदेतत्[3], पश्यन्ती तावत् स्वरूपाभिधानाभ्यां विचार्यतां यथा पश्यन्ती भवति पश्यन्तीत्वेन युक्तैवेत्यर्थः ।। १९ ।।

स्वरूपमभिधानं च तस्याश्चर्चयितुमाह--

वर्तमानसमारूढा क्रिया पश्यन्त्युदाहृता ।। २० ।।
दृशिः सकर्मको धातुः किं पश्यन्तीति कथ्यताम् ।

वर्तमानकालारूढा दर्शनक्रिया हि वागात्मककर्तृनिष्ठा[4] पश्यन्तीशब्दस्यार्थः । दृशिश्च धातुः सकर्मकः[5] सकर्मकक्रिय इति दृश्यमत्र कर्म निरूपणीयम् ।। २० ।।

तदेव[6] पर्यालोचयन्नाह--

यद्याभासान्बहिर्भूतांस्तत्सतोऽप्यसतोऽपि[7] वा ।। २१ ।।
सत्यत्वे दर्शन[8]भ्रंशो ह्यसत्ये सत्यता कथम् ।

---

१ यद्यपि 'शास्त्रतो गुरुतः स्वत' इत्यस्ति त्रिधा नियमस्तथापि स्वत इत्यस्य तयोरुपायभूतत्वात् तथेह तस्यैव प्रधानभूतत्वात् तेनैव कथनीयमित्याह विमर्शानुभवेत्यादि । २ ननु तथापि बोध एव संवित्परमार्थोऽर्थसत्ताप्रारम्भरूपत्वादस्यालमनेन वागात्मनेति तत्राह तदेवमिति । ३ अन्यदशान्तरमित्यर्थः । ४ क्रियायाः कर्तृरूढिता सिद्धैवान्यथास्वभावकथने तद्वतोऽनुद्देशो दोषावह इति समर्थयति वागात्मकेति । ५ तदेवमत्र कर्तृक्रिया कर्मेति त्रिधा वस्त्ववस्थितमिति । ६ किं कर्मेति । ७ विवर्तरूपतया बहिरिष्टान् । ८ स्वमतप्रच्युतिः ।

यद्याभासान् घटपटादिरूपान् इदन्तया पश्यति, तत् तेषां सत्यासत्यताविचारे सत्यता तावदसत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहितात्मकं विवर्तमिच्छद्भिः दर्शनभ्रंशभयान्न वाच्या, असत्ये पुनदृश्ये नासत्यार्थदर्शित्वे पश्यन्त्याः सत्यतायोगः ॥ २१ ॥

अविद्यावादोऽपि न युक्त इत्याह––

गृह्णात्यथाविद्यया वा साप्यस्याः कथमास्थिता ॥ २२ ॥
सत्या ह्यसावसत्या वा सत्यत्वे दर्शनक्षतिः ।
असत्ययापि सत्यस्य संबन्धोऽतीव दुर्घटः ॥ २३ ॥

अनाद्यविद्यावशादपि असत्यदर्शने मिथ्यात्वं तावदस्याः स्थितम्, अविद्ययापि च संबन्धो न तस्या घटते, अविद्या हि अविद्यात्वाभ्युपगमादेवासत्या, न चासत्यया संबन्धो रूपश्लेषमयो युक्तः ॥ २३ ॥

न च पश्यन्त्यप्यसत्या युक्तेत्याह––

असत्या यदि पश्यन्ती पश्यन्ती ब्रह्म चित्रता ।

पश्यन्ती यद्यसत्या, तत् पश्यन्ती ब्रह्मतत्त्वमित्याश्चर्यरूपतास्यार्थस्य ॥

अन्यच्चाह––

बहिर्भावान्विसृज्यादौ पश्चात्पश्यति[1] साथ किम् ॥ २४ ॥
सत्या सृजत्यसत्यानि विचित्रमभिधीयते ।

किं तत्त्वान्तराभावाद्विश्वे भावाः पश्यन्त्यैव स्रष्टव्याः, तांश्च सृष्ट्वा लब्धस्वरूपान् सा पश्चात्पश्यति, एतदेव हि युक्तम्[2] । तत्र सा सत्या सती असत्यानि रूपाणि सृजतीत्येतत् तु असंभवादाश्चर्यं सत्कार्यवादोपपत्तेः[3] कारणस्य कार्यव्यतिरेकेणासत्यताप्राप्तेः, असत्यसर्गेऽप्यसमञ्जसकारित्वेन मालिन्यप्रसङ्गात् ॥ २४ ॥

न च क्रीडार्था वान्यथा वा सृष्टिरित्याह––

ज्ञातान्सृजत्यसौ तान्वा नेति ज्ञातेष्वदर्शनम् ॥ २५ ॥
अज्ञातेषु न सृष्टिः स्यादिष्टं क्रीडादिकं नच ।

सृष्टिश्च ज्ञातपूर्वाणामुताज्ञातानाम् । तत्र[4] सृष्टेः पूर्वमलब्ध-

---

१ पश्चात्–सृष्टिसमनन्तरम् । २ किमित्यनेन संबन्धः । ३ असतः कारणत्वे सर्वस्मात्सर्वोत्पत्तिप्रसङ्गः । ४ पक्षद्वयमध्ये ।

स्वरूपत्वे कस्य दर्शनम्, अतोऽपरिदृष्टानेव सृजेत्, तत् ज्ञातेषु सृष्टिरिति पक्षो नोपपन्नः। अथवा अज्ञातेषु सृष्टिरिति न भवतां दर्शनं नाभ्युपगम इत्यर्थः। अज्ञातेष्वपि बुद्धिमतामबुद्धिपूर्वा कथं सृष्टिः। निष्प्रयोजना च कथं स्यात् सृष्टिः। क्रीडैव स्रष्टुः सृष्टिः सृष्टिस्वभावत्वं वेति हि भवतां नेष्टम्॥ २५॥

पुनर्विकल्पयन्नाह—

तानि दृष्ट्वानुसृजति[1] सृष्ट्वा वानुप्रपश्यति॥ २६॥
पश्यन्त्याः[2] सत्यरूपायास्तत्सत्यत्वे न दर्शनम्[3]।
असत्ये सत्यदृष्ट्यैव पश्यन्त्यां मलिनात्मता॥ २७॥
असत्यान्सत्यरूपान्वा कथं सृजति कल्प्यताम्[4]।

तानि तानि वस्तूनि दृष्ट्वा ज्ञात्वा वा सृजति, सृष्ट्वा वा प्रपश्यति इत्येतद्यथास्तु[5], अनुशब्दोऽत्र[6] पश्चादर्थः नुशब्दो वा वितर्के। पश्यन्तीत्वमेव न युक्तम्। तथा हि सत्यरूपा सा, तद्दृश्यानां च सत्यत्वे न दर्शनं नाभ्युपगमो द्वैतप्रसङ्गात्। अथ तेषामसत्यत्वं, ततो यथैव सत्यसर्गे मलिनता, तद्वदसत्यसृष्टौ मुख्यैव भ्रान्तिरूपता। पुनरपि च असत्यानर्थान् सत्यान्[7] वा पश्यन्ती क्रीडाद्यभावेऽपि केन प्रयोजनप्रकारेण सृजतीति विमृश्यताम्॥ २७॥

असत्यसत्यसर्गदर्शने प्रागुक्तेऽप्यविद्यापर्याप्तपर्यालोचना प्रसङ्ग-

---

१ दृष्ट्वा अवबुध्य। २ उभयमपि मिथ्यात्वेन कथयति। ३ भवदभिमतशासनम्। ४ समर्थ्यताम्। ५ स्वरूपेण स्थीयताम्। 'ज्ञातान्सृजत्यसौ तान्वा' इति पूर्वमेव तन्निरसनप्रकारस्योक्तत्वात्। ६ अनुशब्दोऽत्रेति तानि तान्यादौ ज्ञात्वा स्वविमर्शेनाकलय्यानु पश्चात् सृजतीत्यर्थः। ननु च 'अत्रासवं पीत्वा गायति' इत्यादौ यथादौ तत्पानं, ततश्च गानं पूर्वकालद्योतकत्वात् क्त्वान्तत्वेनैव प्रतीयते, न तत्र पश्चाच्छब्दादिनोपयोगः, ततश्च किमर्थमनुशब्दप्रयोग इत्याशङ्क्याह नुशब्दो वा। वाशब्दः पक्षान्तरे। नुशब्दो वितर्के, उभयकोटयवलम्बी वितर्कः। ७ ततश्च न भ्रान्तिरूपता।

यद्याभासान् घटपटादिरूपान् इदन्तया पश्यति, तत् तेषां सत्यासत्यताविचारे सत्यता तावदसत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहितात्मकं विवर्तमिच्छद्भिः दर्शनभ्रंशभयान्न वाच्या, असत्ये पुनर्दृश्ये नासत्यार्थदर्शित्वे पश्यन्त्याः सत्यतायोगः ॥ २१ ॥

अविद्यावादोऽपि न युक्त इत्याह––

गृह्णात्यथाविद्यया वा साप्यस्याः कथमास्थिता ॥ २२ ॥
सत्या ह्यसावसत्या वा सत्यत्वे दर्शनक्षतिः ।
असत्ययापि सत्यस्य संबन्धोऽतीव दुर्घटः ॥ २३ ॥

अनाद्यविद्यावशादपि असत्यदर्शने मिथ्यात्वं तावदस्याः स्थितम्, अविद्ययापि च संबन्धो न तस्या घटते, अविद्या हि अविद्यात्वाभ्युपगमादेवासत्या, न चासत्यया संबन्धो रूपश्लेषमयो युक्तः ॥ २३ ॥

न च पश्यन्त्यप्यसत्या युक्तेत्याह––

असत्या यदि पश्यन्ती पश्यन्ती ब्रह्म चित्रता ।

पश्यन्ती यद्यसत्या, तत् पश्यन्ती ब्रह्मतत्त्वमित्याश्चर्यरूपतास्यार्थस्य ॥

अन्यच्चाह––

बहिर्भावान्विसृज्यादौ पश्चात्पश्यति[1] साथ किम् ॥ २४ ॥
सत्या सृजत्यसत्यानि विचित्रमभिधीयते ।

किं तत्त्वान्तराभावाद्विश्वे भावाः पश्यन्त्यैव स्रष्टव्याः, तांश्च सृष्ट्वा लब्धस्वरूपान् सा पश्चात्पश्यति, एतदेव हि युक्तम्[2] । तत्र सा सत्या सती असत्यानि रूपाणि सृजतीत्येतत् तु असंभवादाश्चर्यं सत्कार्यवादोपपत्तेः[3] कारणस्य कार्यव्यतिरेकेणासत्यताप्राप्तेः, असत्यसर्गेऽप्यसमञ्जसकारित्वेन मालिन्यप्रसङ्गात् ॥ २४ ॥

न च क्रीडार्था वान्यथा वा सृष्टिरित्याह––

ज्ञातान्सृजत्यसौ तान्वा नेति ज्ञातेष्वदर्शनम् ॥ २५ ॥
अज्ञातेषु न सृष्टिः स्यादिष्टं क्रीडादिकं नच ।

सृष्टिश्च ज्ञातपूर्वाणामुताज्ञातानाम् । तत्र[4] सृष्टेः पूर्वमलब्ध-

---

१ पश्चात्–सृष्टिसमनन्तरम् । २ किमित्यनेन संबन्धः । ३ असतः कारणत्वे सर्वस्मात्सर्वोत्पत्तिप्रसङ्गः । ४ पक्षद्वयमध्ये ।

स्वरूपत्वे कस्य दर्शनम्, अतोऽपरिदृष्टानेव सृजेत्, तत् ज्ञातेषु सृष्टिरिति पक्षो नोपपन्नः। अथवा अज्ञातेषु सृष्टिरिति न भवतां दर्शनं नाभ्युपगम इत्यर्थः। अज्ञातेष्वपि बुद्धिमतामबुद्धिपूर्वा कथं सृष्टिः। निष्प्रयोजना च कथं स्यात् सृष्टिः। क्रीडैव स्रष्टुः सृष्टिः सृष्टिस्वभावत्वं वेति हि भवतां नेष्टम्॥ २५॥

पुर्नविकल्पयन्नाह—

तानि दृष्ट्वानुसृजति[1] सृष्ट्वा वानुप्रपश्यति॥ २६॥
पश्यन्त्याः[2] सत्यरूपायास्तत्सत्यत्वे न दर्शनम्[3]।
असत्ये सत्यदृष्ट्यैव पश्यन्त्यां मलिनात्मता॥ २७॥
असत्यान्सत्यरूपान्वा कथं सृजति कल्प्यताम्[4]।

तानि तानि वस्तूनि दृष्ट्वा ज्ञात्वा वा सृजति, सृष्ट्वा वा प्रपश्यति इत्येतद्यथास्तु[5], अनुशब्दोऽत्र[6] पश्चादर्थः नुशब्दो वा वितर्के। पश्यन्तीत्वमेव न युक्तम्। तथा हि सत्यरूपा सा, तद्दृश्यानां च सत्यत्वे न दर्शनं नाभ्युपगमो द्वैतप्रसङ्गात्। अथ तेषामसत्यत्वं, ततो यथैव सत्यसर्गे मलिनता, तद्वदसत्यसृष्टौ मुख्यैव भ्रान्तिरूपता। पुनरपि च असत्यानर्थान् सत्यान्[7] वा पश्यन्ती क्रीडाद्यभावेऽपि केन प्रयोजनप्रकारेण सृजतीति विमृश्यताम्॥ २७॥

असत्यसत्यसर्गदर्शने प्रागुक्तेऽप्यविद्यापर्याप्तपर्यालोचना प्रसङ्ग-

---

१ दृष्ट्वा अवबुध्य। २ उभयमपि मिथ्यात्वेन कथयति। ३ भवदभिमतशासनम्। ४ समर्थ्यताम्। ५ स्वरूपेण स्थीयताम्। 'ज्ञातान्सृजत्यसौ तान्वा' इति पूर्वमेव तन्निरसनप्रकारस्योक्तत्वात्। ६ अनुशब्दोऽत्रेति तानि तान्यादौ ज्ञात्वा स्वविमर्शेनाकलय्यानु पश्चात् सृजतीत्यर्थः। ननु च 'अत्रासवं पीत्वा गायति' इत्यादौ यथादो तत्पानं, ततश्च गानं पूर्वकालद्योतकत्वात् क्त्वान्तत्वेनैव प्रतीयते, न तत्र पश्चाच्छब्दादिनोपयोगः, ततश्च किमर्थमनुशब्दप्रयोग इत्याशङ्क्याह नुशब्दो वा। वाशब्दः पक्षान्तरे। नुशब्दो वितर्ते, उभयकोट्यवलम्बी वितर्कः। ७ ततश्च न भ्रान्तिरूपता।

दानाय पुनर्विकल्पिते प्रयोजनं विनैवाविद्याकृतः सर्ग[1] इति पर्या[2]-लोचयन्नाह—

अविद्याऽस्याः स्वधर्मः[3] किं परधर्मोऽथवा भवेत् ॥ २८ ॥
स्वधर्मत्वेऽस्या[4] मालिन्यं परधर्मेऽपि कस्य सा[5] ।
परस्य शास्त्रानिष्टस्य[6] स्वतन्त्रा वा तथापि सा ॥ २९ ॥
स्वातन्त्र्याद्दुर्निवारैव स्वतंत्रः[7] केन वार्यते ।

अविद्या किं पश्यन्त्याः स्वधर्मः, उत परधर्मः ? स्वधर्मत्वे तस्या अविद्यास्वभावत्वे मालिन्यं स्यात्, परधर्मत्वे वा कस्य परस्यासौ धर्मः । न ह्यद्वयवादे[8] ब्रह्मणः कश्चिदर्थः परोऽस्तीति शास्त्रेऽभीष्टः । अथाविद्या स्वतन्त्रैव, न तु कस्यचिद्धर्मभूता, तथापि सा दुरुच्छेदैव स्वातन्त्र्याद्धेतोः स्यात् । स्वतन्त्रो हि केनान्येन निवार्यते, केन वा प्रवर्त्यते, तथाहि स्वतन्त्र एव न स्यात् । अतः प्रवृत्तौ स्वतन्त्रा निवृत्तिः पुनरस्याः परकार्यापि स्यात्, तन्निवृत्तिकारणाभावमुखप्रेक्षिप्रवृत्तिकत्वेना-स्वातन्त्र्यापत्तेः ॥ २९ ॥

अवाच्यत्वमविद्याया[9] विमृशन्नाह––

[10]तत्त्वन्यत्वैरवाच्या[11] वा यद्यविद्याभियीयते ॥ ३० ॥

---

१ एतदेव ह्यविद्याया अविद्यात्वं, यदनपेक्ष्यैव प्रयोजनं सृष्टिः । २ विवेचयन् । ३ धर्मः स्वभावः, स्वभावश्च स्वभाविनोऽव्यतिरिक्तः । ४ अस्याः पश्यन्त्याः । ५ सा अविद्या । ६ पक्षद्वययोरनुपपत्त्याह––परश्च तस्या नाम न कश्चिदित्याह शास्त्रानिष्टस्येति, शास्त्रानिष्टस्य–शास्त्रेऽनभिहितस्येत्यर्थः । ७ एतदेव हि स्वतन्त्रस्य स्वातन्त्र्यं नाम, यदन्येनानिराकरणम् । ८ अस्तु परो नाम, तथापि किमित्यत आह नहीति । ९ ननु अत एवेयमविद्या सत्त्वासत्त्वतदन्यत्वादिनानिर्वचनीयेति कथ्यते । यद्येतादृग्विचारयोग्या स्यात्, तदा केनानिर्वाच्यत्वं स्यादयोग्यत्वे त्वनिर्वाच्यता सिद्धेत्यपि समर्थयति । १० अविद्या हीयमवस्तुरूपा माया मिथ्यावभासस्वभावाभिधीयते तत्त्वाग्रहणं यतोऽविद्या, अग्रहणं च नाम कथं वस्तुधर्मैर्विकल्प्येत तदेतदाह तत्त्वान्यत्वैरिति । अत्राश्रयगतं बहुत्वमपेक्ष्य बहुवचनं ततस्तत्त्वान्यत्वाभ्यां नित्यत्वानित्यत्वव्यापकत्वाव्यापकत्वपरिग्रह इत्यर्थः । ११ अवस्तुरूपत्वात् ।

पश्यन्त्या लक्षितासौ वा न वा यदि न लक्षिता ।
पश्यन्ती जाड्यमायाति[1] लक्षिता तर्हि लक्षिता ।। ३१ ।।

वस्तूनि हि तत्त्वान्यत्वनित्यत्वानित्यत्वादिभिर्वस्तुधर्मैर्वाच्यानि । अवस्तु पुनरविद्या निःस्वभावा कथं स्वभाववत्तया व्यपदेशार्हा स्यादिति चेत्, तदवस्तुभूता सा पश्यन्त्या दृष्टा न वा । यदि न दृष्टा, तर्हि पश्यन्ती जाडचमायाति सर्वदर्शनाभावादपश्यन्ती स्यादित्यर्थः । अथ तया दृष्टा, तत् दृष्टैव उपलक्षितैव अपरविवेकेनैव प्रतिभातत्वात् तदनुसारितया वाच्यापि भवेदिति यावत् । तत्त्वान्यत्वैरिति बहुवचनं शौण्डार्धर्चादिन्यायेन[2] ।। ३१ ।।

अवाच्यत्वेनापि अव्यवहार्यता तस्याः स्यादित्याह--

अवाच्यत्वेन भवतां तस्या रूपं कुतो गतम्[3] ।
अलक्षितस्वरूपाया अविद्यात्वं कथं स्थितम ।। ३२ ।।

अलक्षितत्वे[4] सति अवाच्यत्वेनापि तदीयं रूपं कुतः प्रमाणाद्भवतामवगतं तस्याप्यलक्षितत्वात्, अलक्षितस्वरूपत्वे[5] चावाच्यत्ववदविद्यात्वमपि कथं[6] व्यवस्थाप्येत ।। ३२ ।।

अनुमानसिद्धतां[7] कल्पयन्नाह--

भेदबुद्ध्यनुमानाच्चेल्लक्षिता[8] तर्हि लक्षिता ।

---

१ स्वभावप्रच्युतत्वात् । २ 'सप्तमी शौण्डैः । अर्धर्चाः पुंसि च ।' इति पाणिनीये यथा बहुत्वेनाश्रयगतं बहुत्वं लक्ष्यते यथा शौण्डादय अर्धर्चादय इति च । ३ अत्र गतिमित्यत्र 'बुध अवगमने' इति ज्ञापकात् 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः' इत्यानुशासिकशासनेन ज्ञानार्थतया मतिबुद्धीत्यादिना क्तप्रत्यये, भवतामिति कर्तरि षष्ठी । ४ यद्धि भवद्भिर्विभीषिकयावाच्यत्वमिति तस्या गीयते, तद लक्षित्वे कथं, लक्षित एव तद्व्यपदेशोऽपि युक्तः । ५ नामस्वरूपयोर्द्वयोरलक्षित्वे निरास इत्यर्थः । ६ कथं केनानुभवप्रकारेणेत्यर्थः । ७ ननु केनेदमुक्तं कुतः प्रमाणादिति, अस्ति हि प्रत्यक्षतो बलवत्तरमनुमानं नाम प्रमाणं--तथाहि नदीपूरभेदेनालक्षिताया अपि वृष्टेरनुमानं यथा, तथा अक्रमेऽखण्डितशब्दात्मकज्योतिःस्वरूपे भावभेदक्रमान्यथानुपपत्त्या भवितव्यमेवानुमानेनात्रापीति समर्थयत्यनुमानसिद्धतामिति । ८ भेदज्ञानं हि कुतेऽविद्यां विना संभवेदिति ह्यविद्या संभवत्येव ।

भावभेदसिद्ध्यन्यथानुपपत्त्या तथात्वेनाविद्या[1] यदि लक्षिता अनुमितेत्यर्थः । एवं तर्हि लक्षितैव, तत्किमित्यलक्षितत्वमुच्यतेऽस्या अवाच्यत्वं वा ॥

एवमपि[2] न सिद्ध्येत्याह––

न चानुमानमिष्टं तेऽप्यवस्थेत्यादिदूषणात् ॥ ३३ ॥

न चापि भवतोऽनुमानं सम्यग्ज्ञानमिष्टम्––

'अवस्थादेशकालानां भेदाद्भिन्नासु शक्तिषु ।
भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरतिदुर्लभा ॥'

(वाक्य प० १ । ३२)

इति,

'हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमे पथि धावता ।
अनुमानप्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः ॥' (१।४२)

इति चान्यच्च वदतः । नहि वस्तुव्यवस्थापने शक्ततायां प्रत्यक्षात् न्यूनता तस्य स्यात्, अशक्ततायां तु अप्रामाण्यमेव ॥ ३३ ॥

---

१ तत्कारणतया । २ एवमनुमानकल्पनायामपि । ननु चास्तु तस्याः कार्यावस्थायां लक्षित्वं यतो भावभेदानुपपत्त्यैव तत् कल्पितं, कारणावस्थायां च तस्यां अलक्षितत्वमेवेति सिद्धेऽपि तत्रालक्षित्वे पूर्वोक्तमेव दूषणं, लक्षितत्वेऽवाच्यत्वाहानिरिति, यत्पुनरलक्षितलक्षितत्वं नामानुमानकल्पितं, तत्र––

**'अर्थवत्त्वं न चेज्जातं मुख्यैर्यस्य प्रयोजनैः ।
तस्यानुषङ्गिकेष्वाशा कुशकाशावलम्बनम् ॥'**

इति नयेनानुमानस्यैव भवन्मतेऽनुपपत्तिता, येनार्धजरतीयन्यायेन लक्षितालक्षितत्वं सिद्ध्येदित्याह––एवमपीति ।

**'बहुकृत्वोऽपि वस्त्वात्मा तथेति परिनिश्चितः ।
देशकालादिभेदेन दृश्यते पुनरन्यथा ॥'**

तथा

**'ये तु प्रत्यक्षतो विश्वं पश्यन्ति हि भवादृशाः ।
किं दिव्यचक्षुषां तेषामनुमानप्रयोजनम् ॥'**

सत्या वा स्यादसत्या वा न मध्यायाः[1] समन्वयः ।
विद्या[2] न भवतीत्येवं तत्तुल्या काचिदापतेत् ।। ३४ ।।
सत्यैव यदि विद्यनामभावस्तर्हि[3] शून्यता ।
शून्यया बाध्यते चित्रं पश्यन्ती दर्शनात्मिका । ३५ ।।

सत्या सति सत्ये साधुः सती वा स्यादविद्या, असत्या तद्विपरीता वेत्यर्थः । न मध्यायाः संभवः सदासतोः परस्पराभावरूपत्वात् न तृतीयराशिसंभवो यतः । तथा हि इयमविद्या विद्या न भवति,–इत्येवं विद्यापर्युदासेन[4] समस्तविश्वात्मतया प्रथमाना न प्रतिषेधमात्ररूपा, अतश्च विद्यासदृशी काचिद्विश्वात्मिका स्यादविद्या सत्यैव, अतश्च नानिर्वाच्यत्वं, नाप्यद्वयम् । विद्यानां सम्यग्ज्ञानानामभावः प्रसज्यप्रतिषेधोऽपि[5] यद्यविद्या, तत् सा शून्यता निवृत्तिमात्रं न किञ्चिदिति यावत् । ततश्च शून्यया नीरूपया पश्यन्ती नाम सम्यग्ज्ञानात्मकः पक्षो बाध्यते इति चित्रम् । सम्यग्दर्शन-

---

१ मध्याया इति––सदसदुभयात्मिकायाः––

'असत्त्वे च निषिद्धेऽस्याः सत्त्वमेव बलाद्भवेत् ।
सदसद्व्यातिरिक्तो हि राशिरत्यन्तदुर्लभः ।।'

इति । २ सत्या वासत्या वा इति पक्षद्वयामाशङ्क्य निरस्यति विद्या नेत्यादिना सत्यतापक्षं, यदीत्यादिनासत्यतापक्षम् ।

३ प्रतिषेधपक्षमाश्रित्याह–तर्हीति ।

४ 'प्राधान्यं तु विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता ।
पर्युदासः स विज्ञेयः क्रियया सह यत्र नञ् ।।'

इति पर्युदासलक्षणम् । तथाचान्यत्र 'नञ्युक्तं यत्, तदन्यस्मिंस्तत्सदृशे संघटते' यथा–अब्राह्मणमानयेति वाक्ये ब्राह्मणसदृशस्तत्तुल्योदरपाणिपादनयन एवानीयते, नाश्वो न वा गर्दभ इति ।

५ प्रतिषेधमात्रप्रधानः प्रसज्यप्रतिषेधः । तथाचोक्तं––

'अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ यत्रोत्तरपदेन नञ् ।।'

इति । तथा–अश्राद्धभोजी ब्राह्मणः श्राद्धे न भुङ्क्ते इत्यर्थः । उक्तं च वृद्धैः

'अभावे स्वल्पभावे च सादृश्ये च विपर्यये ।
कुत्सायामपि नञ् ज्ञेयो रिष्टादौ च शुभोक्तिषु ।।'

इति ।

बाधेनैव द्वैतभ्रान्तिः, अकिञ्चिद्रूपस्य बाधनशक्त्यभावान्न संभवत्येतदित्यर्थः। पश्यन्ती च नेश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तन्यायेन शब्दनात्मिका परमेश्वरशक्तिरिष्यते भवद्भिरीश्वरोपगमप्रसङ्गात्[1], अपि तु सूक्ष्मो वाच्याभेदेन स्थितो वाचकः शब्द इत्येवं शब्दात्मासौ ॥ ३५ ॥

इन्द्रियत्वाभावेऽपि पाण्यादि[2] यथा पार्थिवत्वान्न परमार्थः, तथा वायवी वागपीत्याह––

पाण्यादेश्चेद्धराद्यात्मा[3] वाचो वाय्वात्मता न किम्।
सिन्धुशब्दादिवच्छब्दो न पश्यन्त्यादिके[4] भवेत् ॥ ३६ ॥

न शब्दमात्रं पश्यन्तीमध्यमादौ स्थातुमुत्सहते समुद्रघोषादिरिव तथा तत्रादर्शनात् ॥ ३६ ॥

न पश्यन्त्याः सत्यभूताया अविद्यया बाधनम्[5], अपि तु मध्यमाया इत्याह––

अथ[6] मध्यमया बाह्या[7] भावा ग्राह्या ह्यविद्यया।
तस्या एव हि संयोगो बुद्ध्या संकल्पनात्मना ॥ ३७ ॥

मध्यमाख्यया वाचा बाह्यत्वेन भेदेनाभास्यमाना भावा अविद्यावशात् ग्राह्याः। तस्या एव संकल्पनात्मना अर्थावसायरूपया[8]

---

१ भवतां हि नेश्वरोपगमः अविद्यावादकल्पनात्। २ इत्थं वाच इन्द्रियत्वमभ्युपगम्य परवादिमतं निरस्तम्। अथेदानीं कारणानुगमतया तदेव निरस्यति पाण्यादेरित्यादिना। ३ धरादितत्त्वं पाण्यादेरात्मा स्वभावो न ब्रह्मतयाभ्युपगम्यते, तथा वागपीति। ४ पश्यन्त्यादित इति पश्यन्ती आदिः प्रधानं यस्येति सार्वविभक्तिकस्तसिल्। ५ अविद्याकर्तृका बाधा न पश्यन्तीविषय इत्यर्थः, ततश्च न पश्यन्त्यां काचित् क्षतिः। ६ तदेवं पश्यन्त्यां न कथंचनापि ह्यविद्यायोग इति समर्थितं द्वैतप्रथा चाभासमाना कथं सिद्ध्येत्यर्थानुरोधेन यतो द्वैतप्रथा मध्यमायामेवाभासते, ततोऽस्या एव तद्योगे न काचनानुपपत्तिर्नाम, तस्याः स्वरूपज्योतीरूपत्वादस्याश्च स्फुटमेव संजल्परूपत्वादित्याह पूर्वपक्षमाशङ्कमानत्वेनाथेत्यादि। ७ बाह्यत्वेन भास्यमानाः। ८ पश्यन्त्यां हि स्वरूपज्योतीरूपायां सर्वात्मनार्थाऽपि तन्मय एवेत्यतो मध्यमायां पदार्थावसायरूपत्वेनान्तःसंजल्पाकारेणावश्यमविद्यायोग इत्यर्थः।

बुद्धचा संबन्धोऽन्तःकरणे प्राणापानपथे तस्या एवावस्थानात्, न तु पश्यन्त्याः[1] ॥ ३७ ॥

इतदपि[2] नेत्याह—

तत्रापि मध्यमा कस्य कार्यं पश्यन्त्यवस्थया ।
सा जन्या[3] हेतुना केन शबलां जनयेदसौ ॥ ३८ ॥

तत्रापि मध्यमाया बुद्धिपदे वेद्यवेदकद्वैतावभासिनि स्थिताया अविद्यायोग इत्यभ्युपगमे मध्यमा[4] वाक् कदाचिद्भावात् कार्यभावात्—

'वाच एव च पूर्वस्याः सा कार्या स्यात्…।'

इति न्यायेन अन्यकारणाभावात्[5] पश्यन्त्यवस्थयैव[6] सा जन्या प्राप्ता[7]। एवं च सति केन हेतुना तां मध्यमां शबलां भिन्नग्राह्याच्छुरितामसौ[8] शुद्धस्वभावा[9] सती जनयेत् ॥ ३८ ॥

न कथंचित्तज्जननं[10] युक्तमित्याह—

नहि तस्या[11] निमित्तं वा कारणं समवायि[12] वा ।
निमित्तत्वे[13] पृथक्त्वं स्यात्समवाये तदात्मता ॥ ३९ ॥

असावित्यनुवर्तते । असौ पश्यन्ती तस्या[14] निमित्तमात्रं[15] कारणं

---

१ नत्विति तदुत्तीर्णस्वरूपायाः । २ इत्थं पश्यन्त्यसमर्थनया संकुचितेन प्रतिवादिना मध्यमाकृत एवायमविद्यावाद इति गृहीतं, तदसहमान आह एतदपि नेति । ३ व्यतिरिक्तकारणाभावात् । ४ अत्रेत्थं व्याप्तिः—मध्यमा वाक् कादाचित्कावभासमयीत्यात् कार्यैव । यत्किंचित्कादाचित्कावभासमयं नास्ति, तत्कार्यमपि नास्ति । अस्ति चेयं कादाचित्कावभासाभावा पश्यन्ती, न ततः कार्यरूपेति । मध्यमा पुनः कादाचित्कावभासा, ततश्च कार्यरूपेत्यर्थः । ५ भवद्भिरपि द्वैतवादाभ्युपगमानभिमतत्वात् । ६ नत्वविद्यया । ७ भवदनभिमतावपि बलादेवायाता । ८ कृतोपरागाम् । ९ शुद्धस्वभाववत्त्वमेवात्राभेदे हेतुः । १० इत्थं तत्कार्यता न कथंचन मध्यमाया युक्ता, तत्कार्यत्वे कारणसदृशं कार्यमिति नीत्या विलक्षणस्वभावतानुपपत्तिः, तदकार्यत्वे कारणान्तरं कथनीयं, न च तदिष्टं तदभावादेव, द्वैतापत्तिर्हि तथा स्यादिति । ११ तस्यः—मध्यमायाः । १२ पश्यन्ती । १३ तद्बाधामाह-निमित्तेति । १४ तस्याः—कार्यत्वेन पूर्वप्रक्रान्तायाः । १५ यत्कार्यसिद्धौ बहूपकारकमसंबद्धं च, तन्निमित्ताख्यं कारणं यथा पटोत्पत्तौ वेमादि ।

विजातीयम्[1], नापि समवायिकारणं सजातीयतयाविभागेन वा स्थितं, निमित्तमात्रत्वे द्वैतापत्तिः[2], समवायित्वे[3] तु क्षीरस्येव दध्युपादानकारणत्वे सति उपादानोपादेययोरेकप्रवाहरूपत्वेनाभिन्नयोगक्षेमता[4] प्राप्ता, कालभेदेऽप्यन्यथातथात्वं[5] न स्यात्। पटं प्रति तन्तूनामिव वा समवायित्वे पश्यन्तीमध्यमयोस्तन्तुपटवदभिन्नात्मता[6] भेदेनाप्रथनात् ॥ ३९ ॥

ततश्च दोषमभिधाय द्वये[7] पश्यन्तीत्वमप्यनुपपन्नमित्याह—

तथाप्यविद्यया[8] योगः पश्यन्त्यात्मानमेव चेत् ।
अन्धमूकं जगद्बाह्ये सर्वमेव भविष्यति[9] ॥ ४० ॥
इन्द्रियादेर्मनोवृत्तेः[10] सर्वस्या एव लोपिता ।

पश्यन्त्या मध्यमया सहैकयोगक्षेमत्वेन ऐक्येन वा मध्यमाया इवाविद्यायोगदोषः शुद्धताहानेः। अथ शुद्धैव पश्यन्ती यतो न भेदेनार्थान् पश्यति अपि त्वात्मरूपान् ततो नाविद्यायोगदोषस्तस्या इति। एवं सति मध्यमाया अपि तदभेदात्, तथात्वे बाह्ये भिन्नेऽर्थजाते अन्धमज्ञम् अश्रवणाच्च उच्चाराद्यव्युत्पत्तेः मूकमपि सर्वमेव जगत् भविष्यति[11]

१ कार्येणासदृशम्। २ कार्यकारणयोः पृथक्स्थितत्वात्। ३ यत्कार्योत्पत्तौ नित्यमेव संबद्धं तत् समवायिकारणं–यथा घटोत्पत्तौ मृत्तिका, दध्नि वा क्षीरम्। ४ स्वरूपेण स्थितिर्योगः, अर्थवत्तया स्थितिः क्षेमः। ५ द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः शब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यत इति शासनेनान्यथात्वं तथात्वं न स्यात्, क्षीराद्दध्नो नान्यथात्वं, नापि तथात्वमित्यर्थः। तथा पश्यन्त्या मध्यमाया नान्यथात्वं, नापि तथात्वमित्यर्थः। ६ तन्तुपटयोरुभयोरऽपि कार्योत्पत्तावपि न स्वरूपान्यथाभावोऽत्र। पूर्वत्र तु कार्योत्पत्तौ स्वरूपान्यथाभावः परिणामभावेनास्त्येवेत्यनयोर्विशेषः। ७ द्वये-पूर्वोक्ते पक्षद्वयेऽपि। ८ तथापीति, समवायित्व इत्यर्थः। तथा च पश्यन्त्याः शुद्धताहानिः। यदि च पश्यन्त्याः शुद्धत्वमेव, तर्हि तेनापि प्रकारेण दोषमाह। ९ भवन्मताश्रयणे। १० प्रत्यक्षबाधामस्यार्थस्याह-इन्द्रियादेरिति। ११ तदेवं पश्यन्तीमध्यमोभयमुख्यगौणभावेन संबन्धो योज्यः, यदि चैक्ये पश्यन्तीमाहात्म्यमेव पोस्फुरीति, तर्ह्यविद्याकालुष्ये भेदप्रथायामपि सर्वत्र तज्ज्योतिर्भावात् कथं व्यवहारोपपत्तिः। अथाविद्यामाहात्म्यान्न पश्यन्ती स्वरूपमहोरूपा वरीवर्ति, किंतु मध्यमा, तत्पश्यन्त्याः स्वरूपप्रच्युतेर्न तथात्वमित्युमयथापि दोषाभ्युच्चयः।

विजातीयम्[१], नापि समवायिकारणं सजातीयतयाविभागेन वा स्थितं, निमित्तमात्रत्वे द्वैतापत्तिः[२], समवायित्वे[३] तु क्षीरस्येव दध्युपादान-कारणत्वे सति उपादानोपादेययोरेकप्रवाहरूपत्वेनाभिन्नयोगक्षेमता[४] प्राप्ता, कालभेदेऽप्यन्यथातथात्वं[५] न स्यात्। पटं प्रति तन्तूनामिव वा समवायित्वे पश्यन्तीमध्यमयोस्तन्तुपटवदभिन्नात्मता[६] भेदेना-प्रथनात्॥ ३९॥

ततश्च दोषमभिधाय द्वये[७] पश्यन्तीत्वमप्यनुपपन्नमित्याह––

तथाप्यविद्यया[८] योगः पश्यन्त्यात्मानमेव चेत्।
अन्धमूकं जगद्बाह्ये सर्वमेव भविष्यति[९]॥ ४०॥
इन्द्रियादेर्मनोवृत्तेः[१०] सर्वस्या एव लोपिता।

पश्यन्त्या मध्यमया सहैकयोगक्षेमत्वेन ऐक्येन वा मध्यमाया इवाविद्यायोगदोषः शुद्धताहानेः। अथ शुद्धैव पश्यन्ती यतो न भेदेनार्थान् पश्यति अपि त्वात्मरूपान् ततो नाविद्यायोगदोषस्तस्या इति। एवं सति मध्यमाया अपि तदभेदात्, तथात्वे बाह्ये भिन्नेऽर्थजाते अन्धमज्ञम् अश्रवणाच्च उच्चाराद्यव्युत्पत्तेः मूकमपि सर्वमेव जगत् भविष्यति[११]

१ कार्येणासदृशम्। २ कार्यकारणयोः पृथक्स्थितत्वात्। ३ यत्कार्योत्पत्तौ नित्यमेव संबद्धं तत् समवायिकारणं–यथा घटोत्पत्तौ मृत्तिका, दध्नि वा क्षीरम्। ४ स्वरूपेण स्थितिर्योगः, अर्थवत्तया स्थितिः क्षेमः। ५ द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः शब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यत इति शासनेनान्य-थात्वं तथात्वं न स्यात्, क्षीराद्दध्नो नान्यथात्वं, नापि तथात्वमित्यर्थः। तथा पश्यन्त्या मध्यमाया नान्यथात्वं, नापि तथात्वमित्यर्थः। ६ तन्तु-पटयोरुभयोरऽपि कार्योत्पत्तावपि न स्वरूपान्यथाभावोऽत्र। पूर्वत्र तु कार्योत्पत्तौ स्वरूपान्यथाभावः परिणामभावेनास्त्येवेत्यनयोर्विशेषः। ७ द्वये-पूर्वोक्ते पक्षद्वयेऽपि। ८ तथापीति, समवायित्व इत्यर्थः। तथा च पश्यन्त्याः शुद्धताहानिः। यदि च पश्यन्त्याः शुद्धत्वमेव, तर्हि तेनापि प्रकारेण दोषमाह। ९ भवन्मताश्रयणे। १० प्रत्यक्षबाधामस्यार्थस्याह-इन्द्रियादेरिति। ११ तदेवं पश्यन्तीमध्यमोभयमुख्यगौणभावेन संबन्धो योज्यः, यदि चैक्ये पश्यन्तीमाहात्म्यमेव पोस्फुरीति, तर्ह्यविद्याकालुष्ये भेदप्रथाया-मपि सर्वत्र तज्ज्योतिर्भावात् कथं व्यवहारोपपत्तिः। अथाविद्यामाहात्म्यान्न पश्यन्ती स्वरूपमहोरूपा वरीवर्ति, किंतु मध्यमा, तत्पश्यन्त्याः स्वरूप-प्रच्युतेर्न तथात्वमित्युभयथापि दोषाभ्युच्चयः।

यदि त्वन्मतमाश्रयिष्यति, न तु[१] इदानीमेवमस्तीति प्रत्यक्षविरुद्धतामस्योपगम्याह--चक्षुरादि[२] इन्द्रियमादिः प्रवर्तको यस्यास्तस्या मनोवृत्तेः सर्वस्याश्चक्षुरादिसहिताया[३] भिन्नार्थविषयाया विलोपिता अनुपयोगिता च प्रत्यक्षविरुद्धापि भविष्यति ॥ ४० ॥

पुनरन्यत्पर्यालोचयन्नाह[४]--

पश्यन्ती किं शरीरेऽन्तर्बहिः सर्वत्र वा स्थिता ॥ ४१ ॥

अन्तरव्यापिता तस्या बाह्ये किं मध्यमादिना[५] ।

पश्यन्ती किं शरीरेऽन्तरहन्ताभूमौ, किंवा बहिरपीति सर्वत्र स्थिता। पूर्वस्मिन्कल्पे[६] परिमितत्वं, द्वितीयस्मिन् मध्यमायां कक्ष्यायामिदन्तावेद्यमय्यामपि व्याप्त्यवस्थानात्[७] किं मध्यमावैखरीरूपवाक्प्रभेदेन ॥ ४१ ॥

प्रसरेन्नादबिन्द्वादिसापेक्षा चेदनीश्वरी[८] ॥ ४२ ॥

पश्यन्ती अनुवर्तमाना प्राणापानरूपबिन्दुनादसापेक्षा चेत् सर्गसंहारयोः प्रसरेत्, तर्हि तथापि न व्यापिका नाप्यद्वया स्यात्। एतदनीश्वरत्वम् ॥ ४२ ॥

प्रतिदेहं पृथक्किं सा सर्वत्रैक्येन वा स्थिता ।

---

१ प्रत्यक्षावभासे अन्धमूकबधिरम्। २ चक्षुरादिना दृष्टमेव हि मनसा संकल्पगोचरीकरोति। ३ 'कादीनि व्यञ्जानानि' इतिवत् तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीह्याश्रयणेन चक्षुषोऽपि ग्रहणम्। ४ इत्थमविद्यावादकथननिरासपूर्वं मध्यमायास्तत्कार्यत्वं निवार्य, इदानीं पश्यन्तीमेव--

'अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा।
स्वरूपज्योतिरेवान्तःसूक्ष्मा वागनपायिनी ॥'

इति लक्षणे यदेतत्स्वरूपज्योतिरेवान्त इति भागद्वयं, तत्र दोषोद्भावनायावतारयति पुनरन्यदित्यादिना। ५ तस्यापि तत्स्वरूपत्वेनाप्रच्युतेः। ६ कल्पे--प्रकारे। ७ अन्यत्राप्यनुसरणं व्याप्तिरिति। ८ ननु सत्यमेवैतन्मध्यमादिष्वपि पश्यन्तीव्याप्तिरस्तीति, संजल्पादिसापेक्षत्वात्पश्यन्त्या अपि परं मध्यमादिव्यपदेशः, अत एवास्याः सापेक्षत्वाद्धेतोर्मध्यमेति निर्देशः न तु स्वरूपेण, पश्यन्त्यां तु स्वरूपेण स्फुटमस्त्येवेति शंकापूर्वं निरस्यति अनीश्वरीत्यादिना।

नानात्वं तत्पृथक्त्वेन तदैक्यात्समशब्दता[1] ॥ ४३ ॥
शरीरैः प्रविभागश्चेत्तान्यसत्यानि ते स्थितिः[2] ।

सा च पश्यन्ती प्रतिदेहं पृथग्भूता वा स्यात् सर्वदेहेष्वेकैव वा। पृथक्त्वे बह्व्यः पश्यन्त्यः स्युः, ततश्च नाद्वैतम्, ऐक्ये सति सर्वदेहिनामेकपश्यन्तीयोगादेकत्रापि वक्तरि तत्पूर्वकप्रयत्नप्रेरितप्राणाभिहतस्थानोत्थितः शब्दविशेषो यः, स एव सर्वेष्वपि तूष्णीमासीनेष्वपि उच्चरितः स्यात्, अन्यथा क्वचित्तादृशकार्याकरणात् तस्य स्वभावभेदापत्तेरैक्यं न स्यात्। अथैकत्वेऽपि शरीरोपाश्रयः प्रविभागः स्फटिकस्येवेति[3]। तन्न, तान्यसत्यानि इति तव दर्शने[4] व्यवस्था। न चासत्यमकिंचिद्रूपं क्वचिदुपयोगि भवतीत यावत् ॥ ४३ ॥

अविभागेत्यादिकेन[5] लक्षणेन सुलक्षिता ॥ ४४ ॥
पश्यन्ती यदि वर्ण्येत लक्षणं तद्विलक्षणम् ।

पश्यन्ती च—

'अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा ॥'

इत्यादिना लक्षणेन सुष्ठु अव्याप्त्यतिव्याप्तिपरिहारेण[6] लक्षिता यदि उच्येत, तल्लक्षणमेतद्विलक्षणमतिशोभनमित्युपहासः[7], यतो विलक्षणं लक्षणस्य यल्लक्षणं तद्विगमात् ॥

तदाह—

अविभागा कथं सा स्याद्यतः पश्यन्त्यसौ स्मृता । ४५ ॥

---

१ सत्यमेवैतदैक्यमेव परमार्थतः, समशब्दताभावश्च शरीरभेदेनेति भावः। २ स्थितिः—शास्त्रनियमः। ३ यथा स्फटिकरत्नं स्वरूपत एकमपि तत्तद्रागोपरागेण भेदेनावभासते, तथा पश्यन्त्यपीत्यर्थः—

४ 'विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।'

इतिनयेन। ५ ननु क एवमाह पृथक्त्वे बह्व्य इति, ऐक्ये वा समशब्दता यतोऽविभागैव पश्यन्ती, तथा च किमिदं पृथक्त्वं नाम, ऐक्यं नाम वेति, न कोऽपि दोषकण इति पूर्वपक्षप्रत्यवस्थानपूर्वमाचष्टे अविभागेत्यादि। ६ लक्ष्ये लक्षणैकदेशपतनमव्याप्तिः, अलक्ष्ये लक्षणपतनमतिव्याप्तिः। ७ विलक्षणं विशिष्टलक्षणमुपहासेन, तथा परमार्थतो विरुद्धलक्षणं तथा विलक्षणं लज्जावहमिति च ॥

533

यत एव पश्यन्ती असौ विभक्तदृश्यार्थोन्मुखी स्मृता, ततः कथमविभागा स्यात् यतो लक्ष्यलक्षणपदयोरन्योन्यविरहः ॥ ४५ ॥

तथाहि—

यानि[1] पश्यति किं स्वाक्यरूपदिक्कालभागशः ।
अतथा यदि पश्यन्ती मिथ्या पश्यन्त्युदाहृता ॥ ४६ ॥
यथारूपेण[2] पश्यन्ती निर्विभागा कथं भवेत् ।

स्वकेन[3] स्वकेन रूपदिक्कालभागेन किं दृश्यवस्तूनि पश्यति यानि द्रष्टुं प्रवृत्तेत्यध्याहारः । युक्तं[4] ह्येतत्, यदि पुनरतथा विपर्ययेण[5] पश्यन्ती भवति, तन्मिथ्या[6] अज्ञानरूपा पश्यन्ती अथवा मिथ्या पश्यन्त्युदाहृता पश्यन्तीत्यर्थः । अविभक्ता तु तदा[7] स्यात् भिन्नदृश्यवस्त्व[8]भावात् । पश्यन्तीत्वानुरोधात्तु यथास्थितरूपेण स्वरूपानतिक्रमेण वा पश्यन्ती विभक्तदृश्यवस्तुयुक्ता निर्विभागा कथं भवेदित्युक्तम् । स्वकमेव स्वाक्यम्[9] ॥

---

१ यदुक्तं लक्ष्यलक्षणपदयोर्विरहः, लक्ष्यपदं पश्यन्ती, लक्षणपदमविभागेत्यादि लक्षणं हि लक्ष्यसिद्धये प्रयुज्यते तद्विरहात्प्रत्युत विरोधावहं, तदाह यानि पश्यतीति । पश्यन्ती सकर्मकत्वाद्धि किंचित्कर्माक्षिपत्येव । तच्च कर्मरूपं दृश्यं यदि तद्दृश्यवस्तुस्वरूपतद्देशतत्कालभागमवलम्बते, तर्हि तस्य दृश्यस्य सम्यग्ज्ञानरूपत्वाद्ध्रुवदभ्युपगता पश्यन्ती युक्तैवः परंतु तत्र लक्षणविगमः तत्तद्दृश्यदेशकालस्वरूपत्वेन सविभागत्वान्निर्विभागता कथं संभसतीत्यर्थः । लक्षणव्यवस्थार्थं पुनराह अतथेति, न स्वकस्वरूपदेशकालसहितानि वस्तूनि पश्यति येन निर्विभागतापवादः, किंतु तत्तद्देशकालरहितमेवेति चेत्तर्हि लक्षणाविगमेऽपि लक्ष्यस्यैवासंभवादलं तेन । तथाहि स्वरूपदेशकालरहितं हि मिथ्याज्ञानं, तदुपादानात्सापि मिथ्येत्यर्थः । २ पश्यन्तीति निर्देशात् । ३ तत्तद्दृश्यस्य । ४ सम्यग्ज्ञानस्यैव युक्तात्वात् । ५ न स्वकेन रूपदेशकालेन । ६ प्रथमे निग्रमे मिथ्येति पृथक्पदन्, द्वितीये समुदायेन । तत्र द्वितीयस्य पश्यन्तीशब्दस्याध्याहारः कर्तव्यः । ७ तदेति तत्तद्दृश्यानामस्वीयरूपादिग्रहणकाल इत्यर्थः । ८ पश्यन्ती हि ज्योतिरूपत्वान्न मिथ्याज्ञानप्रत्यवमर्शात्मिकेति । ९ स्वाक्यमित्यत्र स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः ।

भविष्यन्तं[1] वर्तमानं कथं पश्यन्त्यनागतम् ।। ४७ ।।
अन्यदिग्देशगेनान्यदिग्देशे सत्यदर्शनम् ।

योग्यदेशस्थवर्तमानार्थानुभवितृत्वेन तावत् सर्वप्रमातॄणां स्वात्मन्यनुभवः। तत्र भविष्यन्तमर्थं तदनागतमप्राप्तमेव कथं वर्तमानं वर्तमानत्वे पश्यन्ती स्यात् सम्यग्रूपेत्यर्थः। तथा अन्ययोग्यदेशस्थितेऽन्ययोग्यदेशस्थेन सत्यदर्शनं सम्यग्दर्शनरूपा पश्यन्तीत्यर्थः[3]। तथान्यदिग्देशकालगतेन ज्ञानेनान्यदिक्कालगते सति विद्यमानेऽर्थे न दर्शनम्। ततश्च कथं वर्तमानं योग्यदेशस्थमेव पश्यन्ती भविष्यन्तमनागतमसंप्राप्तमन्यदेशस्थितं च पश्यन्ती स्यात्। सर्वदर्शिनी चेष्यते सा, देशकालावत्र[4] परस्परोपलक्षणे ।।

अथ[5] साधारणं ज्ञानं तादृक्किंचन[6] पश्यति ।। ४८ ।।
तथापि[7] तद्विभेदेन भेदता तदभेदतः ।
न किंचन गृहीतं स्यात्तथान्या संहृतक्रमा ।। ४९ ।।

---

१ इदानीं यत्पूर्वमुक्तं—

'वर्तमानसमारूढा क्रिया पश्यन्त्युदाहृता ।।'

इति, तत् समर्थयति। तथा यदुक्तं स्वकरूपादिग्रहणे कथं निर्विभागेति यतो भविष्यन्तमेवार्थं वर्तमानत्वेन गृह्णाति, ततश्च दृश्यस्य स्वरूपाद्युत्तीर्णत्वेनैव भासनात्तल्लग्नत्वाच्च न सविभागत्वं नापि मिथ्याज्ञानवत्त्वमिति दोषद्वयरहितं पश्यन्तीस्वरूपं सेत्स्यति, अलमनेन मिथ्यामिथ्यात्वकथनेनेति यदुच्यते तदपि निर्दलयति भविष्यन्तमित्यादिना २ अप्राप्तस्य वर्तमानत्वे दर्शनं भ्रान्तिरित्यर्थः। ३ नेति पदमत्रापि योज्यम्। ४ तेन भविष्यन्तं वर्तमानमित्यत्र कालनिर्देशोऽपि तथैव देशोऽपि बोध्यः। अन्यदिग्देशग इत्यत्र देशनिर्देशे च कालनिर्देशोऽपित्यर्थः। ५ अत्राह विशेषज्ञानं हीदं यदत्र भविष्यदादिकालव्यपदेशः, पश्यन्ती तु सामान्यरूपा, न तत्र भविष्यदादिव्यपदेशोऽपि संभवतीत्यकालकलितत्वान्न सत्यदर्शनमज्ञातपराशयस्योन्मत्तभाषणमित्याशङ्क्याह अथ साधारणमिति। ६ अत्र यत्तच्छब्दयोरध्याहारः, यदीदृशं ज्ञानं तदेव पश्यतीति। ७ नीलपीतादिविशेषरहितं नियमरहितं सर्वव्यापकं ज्ञानमित्यस्मिन्नपि पक्षे दोषोद्भावनं करोति तथापीत्यादिना। एतद्धि सत्यमेव साधारणं ज्ञानमस्तीति, तथापि दृश्यमत्र विशिष्टमेवेत्याह तथापीति।

देशकालभिन्नार्थग्राहीणि भिन्नान्येव ज्ञानानि सा पश्यन्ती, तेषु[१] साधारणमेकं तादृक्सर्वतज्ज्ञानप्रपञ्चनव्यापारक्षमं किंचनानियतं[२] परिदृश्यमाननीलपीतादिनियतज्ञानोत्तरमस्ति, तत्पश्यति सर्वं पश्यन्तीत्यर्थः। तथापि[३] असाधारणनीलादिनियतज्ञानानां भेदात् तस्यापि भेदता भिद्यमानता स्यात्, न तु सामान्यता तेभ्यस्तस्याभेदात्[४]। तथा[५] च सति न किंचनानागतादि गृहीतं स्यात्, अनागतार्थज्ञानाविभिन्ना पश्यन्ती तदानीमेव तं ग्रहीष्यतीति। अथवा[६] नीलपीतादिज्ञानवत् भेदता अस्याः पश्यन्त्याः, तस्या अपि नीलादिकभविष्यद्वर्तमानार्थशबलीकृतत्वात्। अथ तस्या न भविष्यदादिशबलता, अपि तु बोधमात्ररूपत्वेनाविभेद एव, ततस्तदभेदतो न किंचन नीलादि तथा गृहीतं, ततः कथं[७] पश्यन्ती स्यादिति। अथान्या लक्षणान्तरभेदिता तैः[८] पश्यन्ती संहृतक्रमेति ॥ ४९ ॥

संहृतः क्रम इत्यस्यां संहर्ता[१०] जायते परः।
यया क्रमः संहृतो वा किमात्मन्यपरत्र[११] वा ॥ ५० ॥

---

१ भिन्नज्ञानेषु। २ विशिष्टत्वाभावाद्व्यपदेशानर्हम्। ३ तथापीति, भवत्वेतत्साधारणमेव किंचन सर्वं सहं व्यापकं च अत्र पश्यन्तीस्वरूपनिरूपणमेव सर्वथा संपाद्यं, तच्च कर्मसापेक्षत्वादवश्यं स्वसिद्धये कर्म दृश्यरूपमाक्षिपति, तस्यां हि विशेषरूपत्वेनैव दर्शनसंभवात्तेषामित्यर्थः। ४ तेभ्यो विशेषेभ्यः, तस्य सामान्यस्य। ५ तदभेदत इत्यर्थभागं विवृणोति तथातेति। अयं भावः—विशिष्टज्ञानोदये यदि सा साधारणी तर्हि तदभेदतो विशिष्टज्ञानोदयेऽप्यतीतानागतादिविशेषाभावात्, ततश्च नानागतावेक्षणमिति किमत्र दृश्यं नामेति।

६ 'तथापि तद्विभेदेन'

इत्यादि

'नकिंचन गृहीतं स्यात्'

इत्यन्तं द्वितीयार्थेन संगमयति अथवेत्यादिना। ७ कर्माभावादित्यर्थः। ८ शब्दब्रह्मवादिभिः। ९ ननु च पश्यन्ती संहृतक्रमेति ह्यास्याः क्रमसंहार एव निर्विभागत्वे हेतुः, ततश्च केयं कल्पना नीलादिविशिष्टनियतासाधारणज्ञानानां भेदात् तस्या अपि भेदतेति तन्निर्दलयितुमाह। १० त्रितयाधीनं हि संहरणं कर्तृकरणाधिकरणेष्विति तदेव क्रमेणामाह संहर्तेति। केनेत्यपेक्षयावश्यं परेण भाव्यम्। ११ कस्मिन्नित्यपेक्षायाम्।

आत्मनः सक्रमत्वं स्यादन्यत्रापरसंगमः ।
किं पूर्वं सक्रमाभूत्सा रूपद्वित्वं प्रसज्यते ॥ ५१ ॥

संहृतः क्रमोऽस्यामिति । एवमितिशब्दो भिन्नक्रमो योज्यः[1] । एवं यदि सप्तम्यर्थे पश्यन्त्यात्मनि बहुव्रीहिस्तदा संहृतान्योऽर्थोऽपेक्षणीयोऽत्रेति व्याहतम्[2] । अथवा तृतीयार्थे[3] यया क्रमः संहृतः पश्यन्त्या सा तथा । एवं चाधिकरणापेक्षायां किमात्मनि संहृतोऽथापरत्रेति विकल्पः । तथात्मनि क्रमस्य संहरणे योजने सति तस्य सक्रमत्वं स्यात् । अथान्यत्र, तद्द्वितीयवस्तुसंबन्धः ततश्च द्वैतापत्तिः । अथात्मन्येव पूर्वं सक्रमया भूतया पश्चात् क्रमः संहृतो निवारितो नत्वन्यत्र द्वैतापत्तेः, तथापि तस्याः सक्रमाक्रमरूपद्वित्वप्रसङ्गः ॥ ५१ ॥

'अविभागा कथं सा स्याद्यतः पश्यन्त्यसौ स्मृता ।'

इत्यत्र पश्यन्तीत्वादेव दर्शनक्रियाकरणापेक्षया निर्विभागत्वं दूषितं समर्थ्यमानं परेणाशङ्कते[4]—

अथात्मना सा स्वात्मानं पश्यन्ती निर्विभागशः ।
भागे करणरूपत्वात्पारतन्त्र्यं जडात्मता ॥ ५२ ॥

आत्मनैवात्मानमेव च पश्यन्ती सा स्थिता निर्विभागशः विशिष्टादत्यन्तपृथग्भूताद्भागान्निष्क्रान्ता कर्मकरणादिशक्तिमात्रेण स्थितेत्यर्थः । तत्रापि भागे द्वितीये कारकशक्त्यात्मनि करणादिरूपत्वात् तस्या एव पारतन्त्र्यं ;जडता च प्राप्नोति स्वातन्त्र्यादेव चिद्रूपस्येति । एतदीश्वरप्रत्यभिज्ञायां परीक्ष्यम् ॥ ५२ ॥

पर आह—

आत्मानमात्मना हन्ति देवदत्तो यथा तथा ।
भविष्यत्यत्र तत्रास्य स्वांगैरेव विभागिता ॥ ५३ ॥
हस्तादेः करणत्वं हि मस्तकादेश्च कर्मता ।
कर्ता मनःस्वावयवी नामूर्ताया इदं पुनः ॥ ५४ ॥

---

१ अस्यामित्यनन्तरं योज्यः । २ स्ववचनविरोधो व्याघातः । ३ तृतीयार्थे बहुव्रीह्याश्रयणे । ४ निर्विभागत्वमविभागेत्यादिना दूषितं 'पश्यन्तीत्वमेव तत् यत्स्वयमेव कर्मकरणादिरूपत्वम्' इति परेण समर्थ्यमानमाशङ्कते ।

देवदत्तात्मनि यथा कर्मादिभेदस्तथात्र स्यात्,—इत्येतन्न, देवदत्तस्य मूर्तत्वेन विततकारस्य स्वाङ्गैरेव बहुभिरुपगृहीतात्मशब्दाभिधायकैर्विभागः। तथाहि हस्तस्यान्यस्य वावयवस्य शस्त्रादियुजः करणता, मस्तकस्य हृदयादेर्वा हन्यमानस्य कर्मता, कर्ता मनोयुक्तः स्व आत्मा स एव हस्तादिसंबद्धोऽवयवीत्युक्तो यत एव तावत्यात्मभावः। पश्यन्त्याः पुनश्चिन्मात्ररूपत्वेनामूर्ताया वैतत्याभावान्नावयवापेक्षोऽयं व्यवहारः, ततस्तस्या एव भागे करणादित्वेन जडतापत्तिरेव ॥ ५४ ॥

पश्यन्त्यदृष्टमात्मानं[1] दृष्टं वा दृष्टता[2] कथम्।
पश्यन्त्या दर्शनं दृष्टे[3] न च वा ह्युपपद्यते ॥ ५५ ॥

आत्मानं च पश्यन्ती किमदृष्टपूर्वं पश्यति अथ दृष्टम्? तद्द्वयमपि न युक्तं यतः पश्यन्त्याः प्रकाशरूपाया अदृष्टत्वमप्रकाशता[4] नैव, दृष्टे[5] चात्मनि न पुनः दर्शनक्रियाप्रवृत्तिर्युक्ता[6]। न[7] च पश्यन्त्या आत्मा प्रतिक्षणमन्यो येन प्रतिक्षणमेव दर्शनक्रियाया उपयोगेन वर्तमानता स्यात्, नापि[8] तस्या आत्मनो दिक्कालावच्छेदः ॥ ५५ ॥

पश्यन्तं[9] सा किमात्मानं पश्यन्ती जडमेव वा।
जडे जडत्वमेवास्याः पश्यतो ह्यनवस्थता ॥ ५६ ॥

---

१ तदेवं 'अथात्मना सा स्वात्मानम्' इत्यत्रात्मनेति भागे पारतन्त्र्याज्जडतामुपपाद्य आत्मानमिति कर्मभागं विकल्पति। आत्मानमिति निजमेव स्वरूपं कर्मरूपशक्तिमात्रेण स्थितं पश्यन्ती कर्तृरूपशक्तिस्थिता पश्यति येन दर्शनक्रियार्थोऽस्याः घटते। अत्र पश्यन्त्या इति देहलीदीपन्यायेनोभयत्रापि योज्यम्। तत्र पश्यन्त्या दर्शनं दृष्टता तत्कर्मिकेत्यर्थः, द्वितीये पुनः पश्यन्त्या दर्शनं पश्यन्तीकर्तृकमित्यर्थः। २ निजरूपस्यैव कर्मशक्तिरूपत्वाद्दृष्टता दर्शनक्रियाराहित्यमप्रकाशत्वं कथमित्यर्थः। ३ प्रकाशिते। 'च वा' शब्दावत्रानुक्तसमुच्चयार्थौ। ४ अदृष्ट एव हि दर्शनं युक्तं, अदृष्टत्वं च पश्यन्त्या अयुक्तं पश्यन्तीत्वात्। ५ अथ दृष्टतैव पश्यन्त्युपरोधादित्याशङ्क्याह दृष्ट इति। ६ अनवस्था हि तथा स्यात्। ७ च शब्दसूचितमनुक्तसमुच्चयार्थत्वं चाह तच्च यदूक्तं 'वर्तमानसमारूढा' इति तं वर्तमानभागमपि विकल्पयति न चेति। ८ वाशब्दसमुच्चितमाह—नापीति। ९ पूर्वश्लोके दृष्टता दर्शनक्रियायोग्यता, सा च स्वयमचैतन्येऽपि संभवति, इह पुनश्चैतन्यमेवोपोद-

सा चात्मानं प्रकाशरूपत्वात् पश्यन्त्यात्मकत्वाच्च किं पश्यन्तं पश्यति उताप्रकाशरूपं जडम् ? जडे तस्मिन् सापि जडा स्यात् अथात्मापि अस्याः प्रकाशात्मत्वात् पश्यति, न च भिन्नं पश्यति अपित्वात्मानमेव, ततस्तस्यापि पूर्वविकल्प[1]योगादनवस्थता[2], अवस्थानस्य दर्शनविश्रान्तेरभावात् ॥ ५६ ॥

किञ्चित्पश्यति[3] वा सूक्ष्मं[4] तदस्मद्दर्शनान्वयः[5] ।
कर्मत्वे पारतन्त्र्यं स्यात्तस्या एव निजात्मनि ॥ ५७ ॥

यदि वा भवद्भिर्नान्यनीलपीतादि स्थूलं विभक्तस्वरूपं दृश्यं पश्यति अपि तु दृश्यभुवमनापन्नं द्रष्टारमेव किंचिदविकल्प्यं सूक्ष्ममपृथग्रूपं पश्यति, न च[6] पश्यति दृश्यार्थमयदृष्टृरूपैव सती प्रकाशते पश्यन्ती इति कथ्यते। ततोऽस्मदीयदर्शनानुगमः[7] स्यात् पश्यन्त्यर्थः[8] क्रियाकर्तृकर्मकालविभागात्मा त्यक्तो भवेत्। वास्तवे तु कर्मत्वेऽभ्युपगम्यमाने तदीयसूक्ष्मद्रष्टृरूपात्माधिकरणे सति तस्मिन्नेवैकात्मनि द्रष्टृत्वात् स्वतन्त्रे दृश्यतया पारतन्त्र्यं स्याद्विरुद्धम् ॥ ५७ ॥

स्फोट[9] एव हि पश्यन्ती तदन्या वा द्वयं भवेत् ।
तदन्यत्वे तदैक्ये वा तदङ्गुल्यग्ररूपया ॥ ५८ ॥

बलनार्थं शङ्क्यमानत्वेन दर्शयति पश्यन्तं सेति, तदेतदाह प्रकाशरूपत्वात्पश्यन्त्यात्मत्वाच्चेति। १ दृष्टे दर्शनमिति न्यायेन। २ सा च मूलक्षतिकारिणीत्युक्तमेव। ३ ननु चात्मानं पश्यन्तं सूक्ष्मं विकल्पकलङ्काकलुषितं पश्यति यतः तत्किमिति ह्यनवस्था, दर्शनं चानुज्झितद्रष्टृभावस्यैव तत्क्रियात्मकं ततोऽपि न किंचनानुपपन्नं नामेति किं दोषाविर्भाविनेत्यतः आह किंचिदिति। किंचिदिति इदन्ताव्यपदेशानर्हत्वात्स्वरूपत्वादेवानियतम्। ४ सर्वग्राह्यग्राहकताविभागरहितम्। ५ अन्वयः, अभ्युपगमः। ६ ननु च यतः पश्यन्तीत्युच्यते तत एव सकर्मकत्वादस्य स्फुटं पूर्ववदेव दृश्यत्वमापन्नं तत्किमिति तत्र न दोष इत्यत आह न चेत्यादि। ७ ततश्चैवं सति न कश्चिद्विरोध इत्यर्थः। ८ न चैतद्भवतामिष्टमित्याह पश्यन्तीति। ९ स्फोटात्मैव शब्दोऽर्थप्रतिपादकः। तथा चोक्तम्—

वाक्यगत्यात्र सत्यत्वं लभ्यते न विशेषता ।

'एको नित्यः क्रमविरहितः कल्पितासत्यभागो
वाक्यस्फोटो जनयति मतिं तादृशि स्वाभिधेये ।
वर्णास्त्वेते प्रकृतिलघवः कल्पनैकप्रतिष्ठा—
स्तस्मिन्नर्थे विदधति धियं नेत्यलं तत्कथाभिः ॥'

तथा हीत्याहुः कुतो वर्णानामर्थप्रत्यायकत्वम् । ते हि वर्णा गकारादयोऽर्थं प्रतिपादयन्तः समस्ता वा व्यस्ताः । न तावत् व्यस्ताः, एकैकवर्णाकर्णने सति चार्थप्रतीतेरनुत्पादात् । सामस्त्यं पुनर्वर्णानां न संभवत्येव । तद्धि सत्तया स्यात्,सा चायुक्ता । तथा हि, वर्णप्रयोक्तॄणां प्रयत्नस्थानकरणक्रमापरित्यागादवश्यंभावी क्रमः । क्रमे च सति ह्येकैकवर्णकारणिकार्थप्रतीतिः प्राप्नोति, सा च न दृश्यते इति व्यस्तसमस्तविकल्पानुपपत्तेर्न वर्णा वाचकाः । वर्णविषया अपि बुद्धयस्तथैव कल्प्याः, ता अपि युगपन्न संभवन्ति । क्रमे च सत्येकैकवर्णबुद्धेरर्थसंप्रत्ययः प्रसज्यत इति तस्मान्न वर्णा वाचकाः । यदि च स्युस्तद्विपरीतक्रमप्रयुक्ता अपि तमर्थमवगमयेयुः । अस्ति चेयं शब्दादुच्चारितात्तदर्थावगतिः । न चेयमकारणिकैव भवितुमर्हति, तदस्याः कारणं स्फोट इति सर्वथार्थप्रतीतिलक्षणकार्यवशात्कल्प्यमानं तत्कारणं स्फोट इत्युच्यते । स च निरवयवो नित्य एको निष्क्रमक इति । तस्माद्वर्णाभिव्यक्तः स्फोटोऽर्थे प्रतिपत्तिमादधाति । भ्राम्यति जनो वर्णैरियमर्थप्रतीतिरुत्पादितेति । न च वाच्यं स्फोटव्यक्तावपि ते व्यस्तसमस्तविकल्पाः सन्तीति, न स्फोटव्यक्तौ विकल्पाः । तथा हि एके तावदाचक्षते, प्रथमवर्णश्रवणवेलायां स्फोटोऽभिव्यक्तः । न च द्वितीयादिवर्णवैकल्यं तदनुगतेरेवातिशयकारणात्, यथा रत्नपरीक्षायां प्रथमदर्शनं रत्नममलं प्रकाशमानमपि पुनः पुनः परीक्षायां निरवद्यं रत्नतत्त्वं चकास्ति । एवं प्रथमवर्णश्रुत्या व्यक्तेऽपि स्फोटे स्फुटतरप्रतीत्यै वर्णान्तराणि प्रयोक्ष्यन्ते इति । अपरे त्वाहुः ध्वनय एव स्फोटस्य व्यंजकाः तैश्च मरुद्भिरनवयव एष स्फोटोऽभिव्यज्यमानस्ताल्वादिस्थानकरणसंयोगोपाधिवशोपप्लवमाननानाकारगकारादिभागयोगीव प्रतिभासते । मरुतां चञ्चलत्वादुच्चारितप्रध्वंसिनस्ते काल्पनिका भागा भासन्ते । दृष्टं हि नादात्मको हि शब्दो वीणावेणुमृदङ्गपटहादिव्यंजकभेदेन नानात्वमुपगच्छति । तस्माद्वाक्ये पदानामसत्त्वात्तदर्थे च पदार्थानां निरवयवौ वाक्यवाक्यार्थौ इति । बाधकं चात्रावयवकल्पनायां यथा वाक्यस्यावयवाः पदानि पदानामवयवा वर्णा एवं वर्णानामप्यवयवैर्भवितव्यं, तदवय-

आप्तानाप्तविचारो वा सर्वथैव निवर्तते ।। ५९ ।।

भवद्भिः स्फोटः पश्यन्ती च नित्यत्वेनाभ्युपगतौ, ततः स्फोट एव वा पश्यन्ती स्यात् शब्दमात्रभेदात्, ततो वान्या, तत्र द्वैतं स्यात्। अन्यत्वपक्षे ऐक्ये वाभ्युपगते तत्पश्यन्त्याः संबन्धि सत्यार्थदर्शित्वं लभ्येत। 'अंगुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इत्यनयाः वाक्यस्फोटप्रतीत्यात्र लोके न तु पश्यन्ती-संज्ञसत्यदर्शनरूपत्वेन सर्वस्य स्फोटस्य सत्याभिमताद्वाक्यात् विशिष्यमाणता लभ्यते। अन्यत्वपक्षे तु स्फोटस्य सत्यस्यापि असत्यार्थत्वं न दोषः[१], पश्यन्त्यात्मनस्तु शुद्धसंविद्रूपस्य मिथ्यात्वं दोष एव पश्यन्त्यैक्येन स्फोट-सत्यार्थत्वात्। आप्तप्रणीतानाप्तप्रणीतत्वविचारो[२] वा सर्वथा तदा निवर्तते सर्वेषामविशेषेण सम्यग्रूपत्वात्, पूर्वोक्तपश्यन्तीबहुत्ववन्नित्यस्फोटबहुत्वं ततश्चाद्वयहानिरित्येतदप्यत्र सूचितम् ।। ५९ ।।

स्फोटस्यासत्यरूपैर्हि पदाद्यैर्व्यङ्ग्यता कथम् ।
पश्यन्त्याः सत्यरूपाया असत्यैर्व्यङ्ग्यता न च ।। ६० ।।
तादृग्व्यञ्जनसापेक्षा सा न किंचन जायते ।

स्फोटस्य च कूटस्थनित्यस्य सत्यस्य पदवर्णध्वनिभिरुपप्लुतैरकिं-चित्स्वरूपैरशक्तैरत्यन्तविजातीयैः कथं व्यंग्यता सत्यप्रकाशनसामर्थ्ये तेषां

वानामप्यवयावान्तरैरित्यानन्त्यात् का व्यवस्था स्यात्। वर्णान्प्राप्य तु यद्यवयवकल्पनातो विरन्तव्यं तद्वाक्य एव निरम्यताम्। एवं पानकादि-वत्पदार्थेभ्योऽन्य एव वाक्यार्थरूपः स्फोट इति। यथाहि पानकं फाणितनारि-केलमारिचादिभ्योऽर्थान्तरमेव यथा च सिन्दूरलाक्षाहरितालादिभ्योऽर्थान्तर-मेव चित्रमिति सिद्धमेतत्। तत्र तयोः स्फोटशब्दब्रह्मणोरुभयोर्भेदे द्वैतापत्तिः। अभेदमेवमाहुः, यथा पदे वर्णा न सन्ति, वाक्येषु पदानि न सन्ति तथा महावाक्येष्ववान्तरवाक्यान्यपि न स्युः, ततोऽपि महावाक्यान्यपि प्रकरणा-पेक्षया न स्युः, ततोऽपि प्रकरणान्यपि शास्त्रापेक्षया न स्युः, ततश्चैकमेवेदं शास्त्रतत्त्वमविभागमद्वयमापतति। इत्याक्षिप्ते तथाहुः। सत्यमेतत्, शब्द-ब्रह्मैवेदमद्वयमनाद्यविद्यावासनोपप्लवमानभेदमर्थभेदेन विवर्तते। न तु वाच-काद्विभक्तं वाच्यमपि नाम किञ्चनास्ति। तस्मात्काल्पनिक एवायं वाच्य-वाचकविभाग इति स्फोटवादः। तदनुपपत्तिं दर्शयति तदैक्येति वेति।

१ अविद्योपगमात्। २ आप्तप्रणीतत्वेन हि शब्दस्य प्रामाण्यं स्फोटस्य च नित्यत्वेनाप्तप्रणीतत्वम्। अतश्चानित्यत्वं वर्णात्मनः शब्दस्य, नासावर्थ-

सत्यतापत्तेः। पश्यन्त्यात्मत्वेऽपि च स्फोटस्यासत्यव्यञ्जकता तथैव न युक्ता, असत्येनाविद्यात्मनाव्यज्यमानालोकेन रूपमिव स्वयं प्रकाशनशक्त्या न किंचिदेवाविद्यैव सा स्यात् तावत्प्रपञ्चरूपैव अविद्येति कृत्वा[1] ॥

पश्यन्ती[2] वा प्रमाणेन केनासौ प्रतिपाद्यते[3] ॥ ६१ ॥
प्रत्यक्षस्यागोचरत्वादनुमानं प्रदूषितम् ।
भवद्भिरेव नाप्तस्याननुभूतार्थवक्तृता[4] ॥ ६२ ॥

प्रमाणेन वा केन पश्यन्ती भवद्भिर्व्यवस्थाप्यते। प्रत्यक्षं तावदत्र[5] चक्षुरादिमनोगोचरातिक्रमान्नास्ति। अवस्थेत्यादिना भवद्भिरेव तस्य दूषणाच्चानुमानं न सम्यगवबोधकम्। आप्तस्यापि नाननुभूतार्थवक्तृता, तदपि[6] न प्रमाणम् ॥

अथ[7] स्वानुभवेनैव पश्यन्तीं पश्य युक्तितः ।
एवं तर्ह्यपरस्यासौ पश्यन्ती कर्मतां गता ॥ ६३ ॥
यो हि पश्यति पश्यन्तीं स देवः परमो मतः ।

अथ भवन्तो[8] मामाहुः—स्वगतेनानुभवेन प्रमाणेन पश्यन्तीं युक्तितो योगात्समाधेरवधानात् पश्येति। एवं तर्हि अपरस्य स्वानुभवसंज्ञकस्य प्रमाणस्य पश्यन्ती कर्मत्वं प्राप्ता, ततश्च सा परमार्थत्वेनोपगता[9] न तथा स्यात्। यस्मात् स[10] एव तदानीं पराकाष्ठाप्राप्तो देवत्वेन सर्वोत्कर्षेण भवतां मतः स्यात् यस्तामपि[11] सर्वदर्शिनीं पश्यति, ततश्च दर्शनत्यागः ॥

प्रतीतिहेतुरतो न प्रमाणम्। यश्चार्थप्रतीतिहेतुः स्फोटात्मा शब्दस्तस्य नानित्यत्वं, न चाप्तप्रणीतत्वमिति सर्वथा व्यवस्थाप्तानाप्तभाषणे नश्येदेव स्फोटाभ्युपगमे। १ इत्यनेन विचारेण। २ प्रमाणव्यवस्थापितं हि वस्त्ववस्तु, स्वरूपलक्षणाभ्यां मास्तु, तेनैव प्रमाणेन तस्य दृढं व्यवस्थापितत्वादिति प्रमाणमेव तावद्विकल्पयति पश्यन्ती वेत्यादिना। ३ दृढीक्रियते। ४ अनुभूतमेवार्थमाप्तोपि वक्तीत्यर्थः। ५ अत्र पश्यन्तीविवेके। ६ तदाप्तवचनमपि। ७ ननु चानुभवाख्यसुदृढप्रमाणरक्षिते वस्तुन्यलमन्येन प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन बाह्यार्थनिष्ठेनान्तःस्वरूपेऽनभिज्ञातवार्तालिशेनापि इति समर्थयति अथ स्वानुभवेत्यादि। ८ पूर्वपक्षवादिनो मामुत्तरपक्षवादिनम्। ९ उपगता अंगीकृता तथा परमार्थभूता। १० स एव स्वानुभवः। ११ सर्वोत्कर्षतामेवास्य दर्शयति यस्तामिति।

प्रतिभा[1] कथिता या वा सानुमानं न तच्च ते ।। ६४ ।।
न चापि प्रतिपाद्यस्य कादाचित्कप्रतीक्षणम् ।

अथ पश्यन्त्यां प्रतिभा प्रमाणं[2] तत्प्रतिभाप्रभासनं निर्निमित्तमस्ति, कूपे जलमित्यादिवन्न प्रमाणम् । अथात्मस्थितिरेव[3] विलक्षणा ममैवं शंसतीति प्रतिभा, तदात्मस्थितेर्विशिष्टायाः साध्याव्यभिचारनिश्चयेनार्थान्तरावगमेऽनुमानतैव[4], तच्च भवतामनिष्टम्, अव्यभिचारानिश्चये त्वनवगमकत्वं, युक्तिवशाच्चानुभवः कदाचिद्भावी[5] प्रतिभा वा भवेत्, पश्यन्तीं[6]

१ तत्र केचित्प्रतिभाप्रत्यक्षं प्रमाणमित्याहुः । तथा च--

'अस्ति चानागतं ज्ञानमस्मदादेरपि क्वचित्,
प्रमाणं प्रातिभं ह्यो मे भ्रातागन्तेति दृश्यते ।।
नानर्थजं न संदिग्धं न बाधविधुरीकृतम् ।
न दुष्टकारणं चेति प्रमाणमिदमिष्यताम् ।।
क्वचिद्बाधकयोगश्चेदस्तु तस्याप्रमाणता ।
यत्रापरेद्युरभ्येति भ्राता तत्र किमुच्यताम् ।।'

तदेतच्छिथिलयितुमाह 'प्रतिभा कथिता या वा' इति । अत्र वाशब्दोऽस्य स्फुटं प्रत्यक्षानुभवाग्राह्यतां द्योतयति । तथा चानर्थजमिदं ज्ञानं भ्रातुस्तज्जनकस्य तदानीमसत्त्वात् । अथोच्यते भावितयैनं गृह्णाति । तत्र भावितया ग्रहणं ह्यघटमानं भावित्वं नाम प्रागभावः, अभावस्य च भावेन कः संबन्ध इति । यदि मन्यसे अस्ति कूपे जलमिति प्रतिभा, तथा च नानागतानर्थजत्वशङ्का ततश्च प्रमाणमेवेत्यपि निरस्यति निर्निमित्तमिति । तच्च संशयात्मकत्वादस्य यद्युच्यते सोऽपि तदा नानुभूयते । यथा किमिदं रजतमुतारजतमिति । अपि तु रजतमिति प्रतीतिः । न हि संशयानाः प्रवर्तन्ते लौकिकाः, किं तु निश्चिन्वन्त एव विषयमिति किमनुभूयमान एवारोप्यते संशयः, एकतरग्राह्यपि चायं प्रत्ययः तन्निश्चयोपायविरहात्संशयकोटिपतित एव भवतीति निर्निमित्तमेव । २ यदि हि प्रमाणतयासौ गृह्यते कथं क्वचिद्विसंवदेत् । अप्रमाणतथा तु गृह्यमाणः कथं पुमांसं प्रवर्तयेत् । ३ प्रत्यक्षतायां बाधमुक्त्वानुमानवादी समर्थयति अथेति । ४ अयं भावः । यथा हि पर्वतादौ धूमदर्शनाद्धूमाव्यभिचारादग्न्यर्थान्तरनिश्चयः ह्रदादौ व्यभिचारदर्शनात् नार्थावगमः, तथा विलक्षणयात्मस्थित्या पश्यन्त्यर्थसाध्याव्यभिचार इति प्रतिभानुमानपक्षे कैश्चिन्निक्षिप्ता । ५ कादाचित्कोऽनुभवः प्रतिभेत्यन्य इत्यर्थः । ६ पश्यन्ती हि भवद्भिः सदा प्रकाशमानता-

पश्येत्याप्तेन प्रतिपाद्यमानस्य न तु सदा, ततश्च तस्या[1] विच्छिन्नं दर्शनं स्यात्, न सदा प्रकाशमानता, न चैतत् तत्कालप्रतीक्षणं मतम् ॥

स्वात्मनात्मानमथ चेत्पश्यन्ती सा भविष्यति ॥ ६५ ॥

तदानीं[2] प्रतिपाद्यस्य किमायातं स्ववीक्षणात्[3] ।

वक्तव्यमेव[4] तस्यापि पश्यन्तीं पश्य या स्वयम् ॥ ६६ ॥

आत्मानमेव जानाति तथाप्यस्यास्ति कर्मता ।

नानुभवादिना पश्यन्तीदर्शनमपि तु सा स्वात्मना[5] न व्यतिरिक्तेनानुभवेन स्वमात्मानं पश्यन्ती भविष्यतीति यदि मतं, तदेवं सति प्रतिपाद्यस्य भवद्भिरुपदेष्टृभिः किमपूर्वं कार्यं स्वयमेव तस्याः प्रथनात् । एवं तु अवश्यवक्तव्यं भवद्भिः प्रतिपादकैः[6] सद्भिः प्रतिपाद्यस्य[7] पश्यन्तीमदृष्टपूर्वां[8] त्वं पश्य या स्वयमेवात्मानं पश्यति । तथापि चास्याः[9] प्रतिपाद्यसंबन्ध्यनुभवं प्रति पूर्ववत् कर्मतास्त्येव[10], प्रतिपाद्येन[11] परिमितत्वात् पराभिमतायाः पश्यन्त्याश्च्युतत्वात्, परिमितेनैव द्वैतदशोचितेनानुभवेन सा दृश्या स्यात्, न तु तदा प्रतिपाद्यप्रतिपादकपश्यन्तीनामैकध्यं येन कर्मतापत्तिर्न भवेत् । एवं च कर्मतापत्तौ तस्याः स्वयं प्रकाशता-

---

स्वभावाभ्युपगतेति विरोधः । १ तस्याः पश्यन्त्याः । २ ननु नास्माभिः कादाचित्केनानुभवेन प्रतिपाद्या पश्यन्ती अभ्युपगता, येन कादाचित्कत्वात्पश्यन्त्या विच्छिन्नदर्शनेऽनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गः । अपि तु स्वात्मना प्रकाशमानेनानुभवितृत्वेनानुभवविषयमेव प्रकाशमानं पश्यन्ती पश्यति । एवं च सततं प्रकाशमानतैवेत्यपि निराकरोति तदानीमित्यदिना । तथा स्वात्मनात्मानमेव सा प्रत्यवमृशति परन्तु पश्यन्तीव्यपदेशस्तूपदेश्यजनापेक्षयैव न स्वतः कर्मव्यपदेशोऽत्रेति च समर्थयति । ३ तस्याः स्वयंप्रथनात् । ४ उपदेशो ह्यवश्यवक्तव्यत्वाद्विधिलक्षणः, स चाज्ञातज्ञापनलक्षणः । स्वयमेव ज्ञातेऽलमन्योपदेशकथावर्णनया । ५ यदुक्तं 'अथ स्वानुभवेनैव पश्यन्ती पश्य युक्तितः' इत्यस्यैषोऽभिप्रायो यदीष्टः । ६ अन्योपदेशकैः । ७ उपदेश्यस्य । ८ उपदेशो हि न दृष्टे प्रवर्तते । ९ पश्यन्त्याः । १० त्वं पश्यन्तीं पश्य स्वानुभवेन तां लक्षयस्वेति स्फुटमेव पश्यन्त्याः कर्मत्वमायातम् । ११ ननु पश्यन्त्याः स्वयमात्मदर्शनरूपाया न कथंचन कर्मताणुसंस्कारलेशमप्य-

क्षतिरिति पुनरपि तत्प्रकाशकमेव प्रधानं भवेत्। अव्यतिरिक्तोऽपि[1] प्रकाशस्तस्या आत्मानमात्मना पश्यन्तीं पश्येति विवर्तभूम्यालिङ्गनात्[2] अशुद्धतापन्नः। अस्यातीति पश्यन्तीस्वरूपस्य ॥

असत्यः[3] प्रतिपाद्योऽस्मिन्नसत्यः प्रतिपादकः ॥ ६७ ॥
असत्यस्योपदेशत्वमसत्येन परीक्ष्यते ।

पश्यन्त्यतिरिक्तः[4] सर्व एव प्रतिपाद्यादिप्रपञ्चोऽस्मिन् दर्शनेऽसत्यः[5], तत् कुतः पश्यन्त्याः सिद्धिः कस्य वा केन वा प्रमाणेन ॥

येन सा वा प्रमाणेन स्थाप्यते तस्य सत्यता ॥ ६८ ॥
तत्सत्यत्वे[6] द्विसत्यत्वमसत्यत्वे न किंचन ।

यदि वा येन प्रमाणेन सा व्यवस्थाप्यते तस्य सत्यता इष्टा, तत् द्वयोः पश्यन्तीतत्प्रमाणयोः सत्यता प्राप्ता[7], प्रमाणस्यासत्यत्वे न किंचन स्थितं स्यात् ॥

साधुशब्दसमुच्चारात्कस्य स्वर्गादियोगिता ॥ ६९ ॥
पश्यन्त्याश्चेदविद्यात्वं तद्भोगौन्मुख्ययोगतः ।
मध्यमादेर्जडायाः किं भोगेन शबलात्मना ॥ ७० ॥
तस्मादसाधुः साधुः स्याच्छब्दविद्याफलप्रदः ।
एवं व्याकरणस्यापि समुच्छेद उपैति ते ॥ ७१ ॥

स्पृशन्त्याः कथं पूर्ववत्कमेति। तत्र हि पारतन्त्र्यं कर्मताऽत्र तु स्वतन्त्रैवेत्यत आह प्रतिपाद्येनेत्यादि। १ अथ प्रकारान्तरेणापि। अथ स्वानुभवेनैव पश्यन्तीं पश्येति युनक्ति अव्यतिरिक्त इत्यादिना। २ त्वं तस्या आत्मानमात्मना पश्येति तथा च न कर्मता नापि चोपदेशानार्थक्यमित्येतदपि समर्थयति विवर्तभूम्यालिङ्गनात् इत्यादिना। ३ ननु च यः प्रतिपाद्यः सोऽपि पश्यन्ती, योऽपि प्रतिपादकः सोऽप्यसत्यः पश्यन्त्येव, योऽप्युपदेशः सोऽप्यसत्यः पश्यन्त्येव, योऽपि तत्स्वरूपे परीक्षकः सोऽप्यसत्यः पश्यन्त्येवेति किमत्र परस्य कथनीयमिति चेत्, एतदेव पुनरपि समर्थनार्थं कथनीयमसत्यमेव हि सर्वं तर्ह्येतत्संपन्नमित्यलं भवद्वाक्प्रलापेनेत्यर्थः। ४ विशेषप्रतिषेधे सामान्याभ्यनुज्ञानमिति नयेनाह पश्यन्त्यतिरिक्त इति। ५ पश्यन्तीविचारे। ६ तस्य प्रमाणस्य। ७ तदप्यनिष्टमेव।

वैयाकरणैः साधुशब्दप्रयोगः स्वर्गापवर्गफल उक्तः। 'एकः शब्दः शास्त्रपूर्वं प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति' इति। तथा—

'साध्वी[1] वाग्भूयसी येषु पुरुषेषु व्यवस्थिता।
अधिकं वर्तते तेषु पुण्यरूपं प्रजापतेः॥
प्राजापत्यं महत्तेजस्तन्मात्रैरेव[2] संवृतम्।
शरीरभेदे[3] विदुषां स्वां योनिमुपधावति॥'

इति। तत्फलं स्वर्गाख्यं तावत्कस्य स्यात् यः शब्दप्रयोगस्य कर्तेति तत्फलार्थितया पश्यन्त्याः कर्तृत्वे स्वर्गभोगौन्मुख्यात् अविद्यासंपर्केणाशुद्धता स्यात्। मध्यमावैखरीदशायामिष्टानिष्टोपलम्भभाजिप्राप्तिपरिहारौन्मुख्येन प्रवृत्तिः। तन्न, पारमार्थिकप्रमातृनिष्ठा हि विषयव्यवस्थितिः, तन्मध्यमादेः सविभागत्वेन द्वैतावस्थाने सति अविद्याशबलरूपतया जडत्वान्न परमार्थपदप्रतिष्ठेन किंचिद्भोगेन, भोग एवासौ न भवेदित्यर्थः। तस्मात्साधुशब्दः प्रयुक्तः शब्दविद्याफलस्य भोगादेर्दाता, प्रत्युत पश्यन्त्या अशुद्ध्यापादनेनासाधुरशुभः स्यात्। एवं चाशुभकारित्वाद्यथावर्णितफलं व्याकरणमपि त्वदीयं समुच्छिन्नं हेयमेव स्यात्॥ ७१॥

वैयाकरणतां त्यक्त्वा विज्ञानान्वेषणेन[4] किम्।
भवतामप्रस्तुतेन[5] न केवलमिहोदितम्[6]॥ ७२॥
विज्ञानाभासनं यावत्समीक्षायामुदाहृतम्[7]।

---

१ साध्वी व्याकरणव्युत्पत्तिसंस्कारसहिता।

२ तैरेव केवलं संवृतं गोपितम्।

३ मरणक्षणे।

४ सम्यग्ज्ञानवेषणया।

५ प्रस्तावानर्हेण।

६ ननु साधुशब्दानुशासनत्वमेव प्रधानं प्रयोजनं व्याकरणस्य व्यवस्थापितं प्रसङ्गागतं तत्र विज्ञानाभासनं व्यवस्थापितामिति कात्र हानिरिति समर्थयति न केवलमित्यादिना।

७ अनेन तेषामत्र सिद्धान्तप्रतीतिरस्तीति ध्वनितम्।

अर्थप्रतीतिहेतुसाधुशब्दानुशासनव्यापारमेव[१] वैयाकरणत्वं[२] त्यक्त्वा मोक्षप्रयोजनैः शास्त्रैर्यत्सम्यग्ज्ञानमनुसरणीयं तदन्वेषणेन भवतां करणीयत्वेनाप्रस्तुतेन[३] न किंचित्, न केवलं चात्रैव पश्यन्त्यभिधानेन सम्यग्ज्ञानाभास एव उक्तो यावच्छब्दधातुसमीक्षायामपि विद्वद्भर्तृहरिणा ॥

'दिक्कालादिलक्षणेन व्यापकत्वं विहन्यते ।
अवश्यं व्यापको यो हि सर्वदिक्षु स वर्तते ॥'
'दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये[४] ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥'

---

१ इदानीं यदुक्तं तैरलमनेनाग्रहेण, 'एवं व्याकरणस्यापि समुच्छेद उपैति त' इत्येवं रूपणेन । यतोऽत्र 'साधुभिर्भाषितव्यं नासाधुभिः' इति न 'ब्राह्मणेन नैव म्लेच्छितवै म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः' इति श्रुतिश्च । तथा 'आहिताग्निपरशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत्' इति च । तथालमन्येन प्रयोजनेन सकलपुरुषार्थसाधनोपदेशानिधेर्वेदस्य व्याकरणमर्थबोधकत्वात्प्रधानमङ्गमिति तस्मात्सिद्धमेतत् । तस्माद्व्याकरणाभियोगसुभगप्रौढोक्तिभिः पण्डितैरक्लेशेन विचित्रवैदिकपदव्युत्पत्तिरासाद्यते । अन्यैरप्युपबृंहिते दृढतरमङ्गैर्निरुक्तादिभिर्वेदे स्वार्थधियं वितन्वति कुतः प्रामाण्यभङ्गो भवेत् इति तदेव विषयभेदोत्थापनपूर्वं सत्यमित्यनुमत्याङ्गीकरोति साधुशब्दानुशासनेत्यादि ।
२ यतो विभज्य आक्रियन्ते शब्दरूपाणि येन तद्व्याकरणमित्यन्वर्थे तस्य नाम । तद्विदन्ति अधीयन्ते वा वैयाकरणास्ते, तेषां भावस्त्वप्रत्ययेनोक्तः, स च भावप्रत्ययो धर्मान्तरप्रतिक्षेपक इति वैयाकरणतामिति भावप्रत्ययेन ध्वनितः । ३ अप्रस्तुतेनेति प्रस्तावसदृशं हि वाक्यं शोभावहमिति । तच्च नोपपन्नं, यद्व्याकरणं सादुशब्दानुशासनलक्षणं तद्धि मोक्षं प्रति प्रत्युत बाधकमेव । तथा हि मोक्षो हि सर्वथा विच्छेदः । यत्पुनः 'साधुभिर्भाषितव्यं नासाधुभिः' इति प्रोक्तं, तत्र कोऽसाधुः साधुर्वेति प्रकृतान्तरायकारित्वान्न किंचित्तेन फलमित्यर्थः । ४ अत्र हि तत्रभवद्भर्तृहरेर्व्यापकत्वमेव मुख्यवृत्त्या कथनीयम् । तथा हि दिग्देशकालैर्यतोऽपरिच्छिन्नोऽपरिमितस्ततोऽन्तो मर्यादारहितः व्यापक इत्यर्थ । तथा कालपरिच्छेदरहितत्वादनन्तो विनाशरहितो नित्य इत्यर्थः । अत्र हेतुगर्भं विशेषणं चिन्मात्रमूर्तय इति, तदेव व्यापकत्वं प्रमाणादिव्यापारनिरसनेन समर्थयति स्वानुभूतीत्यादिना,

इति लक्षणेन[1] दिग्देशकालैरवच्छेदो विशिष्यमाणता निषिद्धा । तच्चायुक्तं, परिमितदेशकालादर्थात्तस्यावच्छेदात्, अन्यथा[2] सर्वदिक्कालादिविशेषणभावे व्यापकत्वादि न स्यात् । व्यापको[3] हि भवेत् सर्वदिक्षु अवश्यं वर्तमानः सर्वकालावच्छिन्नश्च[4] नित्यः । व्यापकत्वमुपलक्षणं[5] निर्दिष्टम् ॥

अथ दिक्कालविशेषावच्छेदाभावो मतः, तत्तथैव[6] वक्तव्यं न सामान्येन न च तदपि युक्तमित्याह—

स्वानुभूतिर्वर्तमानकालेनास्य[7] विभाव्यते ॥ ७३ ॥
एवं कालानवच्छेदः कथमस्योदितो हि तैः[8] ।

यस्मिन् हि कालभागे स्थितः सांसारिकः प्रमाता तेनैव वर्तमानकालेन भविष्यदादिना तदा तस्यावस्थानात् स्वानुभवविषयतास्योपलक्ष्यते, तत्कथं कालविशेषेणाप्यनवच्छेदः ॥

तेजस इति प्रकाशरूपत्वात् । शान्तायेति विकल्पोत्तीर्णत्वात् । तदेतदाभासरूपतया न सम्यग्रूपमिति कथयति दिक्कालेति । १ असाधारणस्वरूपकथनं लक्षणम्। २ अयं भावः—यदि भवद्भिरत्र दिक्कालाकारविशेषणत्वेन तस्य विशेष्यस्य तदभावसाधनत्वमिष्टं, न तैरयं विशेष्यो भवतीत्येवं प्रकारं तर्हि परिमितादेव तत्सिद्धयति । न च तदिष्टम्, अथ किमिति परिमितादेवेत्युच्यते । किमिति न सर्वस्मादित्युक्तो बाधमाहान्यथेत्यादि ।

३ यदि हि भवतां सर्वस्माद्विशेष्यमाणत्वमिष्टं स्यात्तत्किमर्थं दिक्कालादिविशेषणत्वं निषिद्धम् । अनया हि भवदुक्त्या तेऽपि किंचित्स्वरूपका इत्युक्तं संभवत्येवेत्याह व्यापको हीत्यादि । ४ ननु च यथा भर्तृहरिश्लोकेऽनन्त इदिशब्देन व्यापकत्वं नित्यत्वं चोक्तं तथैवात्रापि समर्थवाक्ये कथनीयमिति कथमुक्तम्—

'अवश्यं व्यापको यो हि सर्वदिक्षु स वर्तते ।' इति ।

५ अत्र हि दिग्व्यापकत्वमेवोक्तं भवेदित्याशंकागर्भीकारेणाहोपलक्षणं निर्दिष्टम् । तदाह सर्वकालावच्छिन्नश्च नित्य इति । ६ तत्तथा व्यापकत्वनित्यत्वे सिद्धे । तथैव विशेषतयैव । ७ न च भवद्भिरेतादृगेवानेनेष्टं येन दिक्कालविशेषावच्छेद एवेति कथयति स्वानुभूतिरिति । ८ यदि हि सर्वकालावच्छिन्नत्वेनैव भवतां कालानवच्छेद इष्टः स्यात्तत्स्वानुभूतीति वर्तमानकालानुभवविषयता कथमस्योच्येत ततश्च नैतद्भवतामिष्टमिति सिद्धम् ।

अनन्तस्यानुभूतिः[1] का परिच्छेदं विनात्मनः ।। ७४ ।।
अनन्तेऽवगमः कुत्र[2] तेजस्त्वे शान्तता कथम् ।
असर्वगप्रमाणं हि मूर्तिर्नो[3] लक्ष्यते चितः ।। ७५ ।।

धातुषट्कोपगमाद्भेदवादे[4] देशकालयोगोऽवश्यंभावीत्यनन्तत्वं देशकालपर्यवसानमुच्येत, अतश्चापर्यवसितदेशकालस्य[5] सानुभूतिर्न तयोः संबन्धो युक्त इत्यर्थः । तथा[6] हि आत्मनः स्वरूपस्य परिच्छेदमियत्तां[7] विना अनन्ते वस्तुनि कुत्रांशेऽवगमोऽस्तु भागानामपर्यवसानात् । अनन्तता[8]-प्रतीतिस्तु परिदृष्टतावत्पदार्थनिषेधपुरःसरत्वेनाग्राह्याद्यन्तकोटिदीर्घ-वस्तुमात्रावसायिनी स्फुरति, न त्वनन्तेन रूपेणापरिच्छिन्नेनावभासन-संभवः । परिसमाप्तरूपनिश्चयो हि प्रतीतिः । तेजोरूपता चेत्, निरा-भासत्वाभावात् कथं शान्तता । तत्केयमुक्तिः 'शान्ताय तेजसे' इति । उपचारे च किं प्रयोजनम् असर्वगतद्रव्यपरिमाणं मूर्तिः काठिन्यं वा न चित् भवति, तत्कथं चिन्मूर्तय इति ।। ७५ ।।

अत्रैव शब्दनित्यत्ववादिनो रूढतां गताः ।
अनादिनाथ तेनैव शब्दतत्त्वेन तुल्यता ।। ७६ ।।

अन्ये वैयाकरणा एव स्फोटादन्यदेव शब्दात्मानं नित्यमिच्छन्ति, तत्रैव रूढाः । अथ तत्रापि[9] तेषां पश्यन्तीरूपेणानादिनिधनात्मना शब्द-

---

१ ननु 'निश्चयेनान्यसिद्धान्तं यो न वेत्ति बुधोऽबुधः ।
स्वयं स संशयानोऽन्यं कथं खण्डेत स्वल्पधीः ।।'

इति नयेनानिश्चितपराशयेन कथं ग्राह्यते । तथा हि दिक्कालानवच्छेदे-नानन्तत्वं देशकालविप्रकृष्टत्वेन देशकालापर्यवसानमुच्यते । तथा च देश-कालसंनिकृष्टं वस्तु अव्यापकमनित्यं चोच्यते, देशकालविप्रकृष्टं तु व्यापकमिति नित्यमिति कथ्यते ततश्च का हानिरित्यत आह अनन्तस्यानु-भूतिः केति । २ अनन्ताय तेजसे इति यदुक्तं तदपि न युक्तमित्यत आह । ३ चिन्मात्रमूर्तय इति एतदपि मूर्तिभागं विदलयति । ४ नैयायिकादिमते । ५ यदि भवद्भिरनन्तत्वमुच्यत इति शेषः । ६ युक्त इत्यर्थ इत्यन्तं युगपदेव देशकालापर्यवसानत्वेन स्फुटमेवानन्त्यमिति निरस्यति । ७ देशेन कालेन च । ८ कुत इति समर्थयति । नित्यशब्दतत्त्वे । ९ तेषां नित्यशब्दात्म-तत्त्ववादिनाम् ।

तत्त्वेन तुल्या प्रमाणाभावादिदूषणता स्फोटात्मना[1] वा ॥ ७६ ॥

तदाह—

आप्तानाप्तभाषितत्वे विशेषो नास्ति शब्दगः ।
नित्यत्वे शब्दतत्त्वस्य व्यङ्ग्यत्वं ध्वनिभिर्न च ॥ ७७ ॥
व्योमवच्चेन्न तुल्यत्वं सदा व्योम्न्यनुमेयता ।

अनाप्तभाषितस्यापि नित्यत्वाविशेषात् तुल्यप्रमाणता[2] स्यात् । न[3] च नित्यस्य ध्वनिभिः कदाचिद्व्यङ्ग्यत्वं युक्तं नित्यमेकरूपत्वेन व्यक्ताव्यक्ततायोगात् । अथ यथा नित्यमेकमपि चाकाशं ध्वनिभिर्व्यज्यते घटाकाशादि वा घटादिभिः तथा शब्दोऽपीति । तन्न[4] तुल्यत्वमत्र, यतः सदा व्योम्नि शब्दगुणादिनानुमेयता न तु प्रत्यक्षाख्या व्यक्तिः ।

भवत्पक्षे[5] न किं न्याय एष आयाति चेच्छिवे ॥ ७८ ॥
तथा रूपानुरूपत्वात्प्रसूतेः शिवरूपतः[6] ।
सत्यत्वाच्च न तुल्य[7]त्वमतोऽस्मात्प्रविरम्यताम्[8] ॥ ७९ ॥

---

१ तुल्येति संबन्धः । तत्तुल्यत्वमेवाह आप्तेति । २ तथा चाव्यवस्था न चेष्टेति भावः । ३ ननु च नित्यत्वेऽपि शब्दतत्त्वस्याप्तानाप्तभाषितव्यवस्था सिद्ध्यत्येव, नित्यत्वेऽपि ध्वनिभिरेव तस्य व्यङ्ग्यत्वादाप्तध्वनिव्यंग्यत्वे सत्यता, अनाप्तध्वनिव्यंग्यत्वेऽसत्यतेति । तथा च न कश्चिद्दोष इत्यत आह न चेत्यादि । ४ तन्नेति न शब्दः काकाक्षिवद्योज्यः । तन्नेति भगवद्वचनमयुक्तमित्यर्थः । न हि तुल्यमत्रेति योज्यम् । ५ ननु च 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केषु योजयेत्' इत्याप्तोक्तिरेवैतादृग्विषयेऽनुमन्तव्या कोऽत्र निर्बन्धो 'यद्याभासान्' इत्यादि । तथा चाप्तोक्तत्वान्मौनमेवात्र शरणम् । नहि अचिन्त्येऽपि तर्कोद्युक्तस्य कदाचिदपि सत्यार्थपरिनिष्ठितिः स्यात् । अथ चेत्तर्क एव शरणं, तर्हि किमिति भवद्भिर्वयमेव प्रत्याक्षिप्ताः । भवतामप्यत्र का युक्तिरित्याशंकापूर्वं स्वमतोत्कर्षं प्रथयति भवत्पक्ष इत्यादिना । न किंशब्दः शिरश्चालने, न किमायाति आयात्येवेत्यर्थः । इति शब्दस्याध्याहारोऽत्र कर्तव्यः । ६ 'रूपप्रसाररसतो गर्हितत्वमयुक्तिमत्' इति प्रथमाह्निक एवोक्तत्वादित्यर्थः । ७ भवन्मतेन । ८ भवद्भिरत्र दूषणारोपणादिनेत्यर्थः । अथ वास्मात्प्रविरम्यतामिति

शिवाद्वैतपक्षेऽपि भवतः शब्द इव शिवेऽपि सत्यत्वादिदूषणन्यायः किं नापततीति चेत्। तन्न, जगदपि ततः शिवरूपात् शिवरूपानुरूप्येण तथा सर्वशक्तियोगात् यदा प्रसूतं तदा शिवरूपमेव, अत एव च सत्यरूपम्, तथा च वक्ष्यते विस्तरतः। तन्न तुल्यत्वं शब्दाद्वैतपक्षेण शिवाद्वयस्येत्येतद्दूषणापादनात् विरम्यताम्॥ ७९॥

तदेतत्प्रासङ्गिकमुक्त्वा पश्यन्तीमेव पर्यालोचयन्नाह—

अथ[1] नाम्नैव पश्यन्ती स्फुटमेव जडा ततः।
ज्ञानशक्तिः स्मृता भङ्ग्या स्त्रीलिङ्गव्यपदेशतः॥ ८०॥

अथ दर्शनार्थान्वये[2] दोषान्नाममात्रेण यादृच्छिकेन[3] पश्यन्ती इष्यते, स्त्रीलिङ्गभङ्ग्या[4] च ब्रह्मसंबन्धिज्ञानशक्तिरूपा सा मता, ततो विरुद्धमेतत्[5] दर्शनासमन्वयात् जडतापत्तेः, जडात्मनि च ज्ञानशक्तितानुपपत्तिरिति॥ ८०॥

शब्दस्य विषयाख्यस्य मिश्रत्वेनेन्द्रियस्य तु।
सर्वदर्शनविज्ञानशून्यता[6] पदवेदिनाम्॥ ८१॥

यस्मादनादिनिधनं शब्दतत्त्वं परा हि वाक्।
पश्यन्त्या वर्ण्यमानत्वे हस्ते ग्राह्यैकता पतेत्॥ ८२॥

ल्यब्लोपपंचम्या व्याख्येयम्। अस्मादेनमाविश्य स्वयमेव भवद्भिः प्रकर्षेण सुखेन स्थीयतां, स्वमतं त्यक्त्वैतमेव मतमाश्रयध्वमित्यर्थः। १ ननु कृतं भवद्दोषारोपणेन किं पश्यन्तीति कथ्यतामिति। नहि सर्वत्र यौगिकोऽर्थः संभवति। सन्ति हि डित्थादयोऽपि शब्दाः। ततश्च रूढिमहिम्नैव कुशलादिवदत्रापि पश्यन्तीनिर्देशः। न च वक्तव्यं किमनेन तथापि पश्यन्तीशब्देन व्यपदेश्यं, स्त्रीलिंगनिर्देशादेव ज्ञानशक्तिरूपत्वादस्या इत्यपि निरसयन्नाहाथेत्यादि। २ दृशिधातोः कर्मरूपस्यार्थस्यान्वये। ३ सांकेतिकेन। ४ तथापि किं वस्तु पश्यन्त्या स्वीकृतमित्यत आह स्त्रीलिङ्गेति। ५ पश्यन्तीति दर्शनार्थासंभवेनायौगिकत्वे स्थिते सतीत्यर्थः। अहो महदाश्चर्यं पश्यन्तीति दर्शनासंभवाद्रूढित्वमाश्रितं तत्रैव च ज्ञानशक्तिरिति। ६ इदानीं केचिदनादिनिधनमित्यत्र शब्दतत्त्वमित्यनेन तथा वाग्रूपतामित्यत्र च परावागित्यनेन अनयोर्वाक्शब्दतत्त्वयोः परस्परसंश्लेष एव यः स एव

विषयरूपत्वेन कर्मतया[1] यस्याख्या प्रतीतिः शब्दस्य तस्य इन्द्रियस्य च करणतया[2] प्रसिद्धस्य वाग्रूपस्य मिश्रत्वेनैकीकारेण यस्मात्तैरुक्तमनादिनिधनमित्यादिकमभेदाभिधायि तयोः[3], तस्मात्तेन मिश्रीकारेण सर्वदर्शनाज्ञानता[4] पदवेदिनां वैयाकरणानां प्राप्ता। नहि क्वचिदपि सांख्यादिदर्शनेषु व्यावहारिकयोरिन्द्रियविषययोरभेद इष्टः। एवं[5] च वा शब्दस्य परत्वेनानादिनिधनत्वेनाद्वयवादादैक्येन वर्ण्यमानत्वे हस्तेऽपि[6] कर्मेन्द्रिये तद्ग्राह्येण विषयेणैकता प्रसज्येत ॥ ८२ ॥

ब्रह्मणो ज्ञानशक्तिः[7] पश्यन्तीत्यपि यावदिष्यते तावदन्यदपि[8] सूक्ष्मतरमेष्टव्यमित्याह——

पश्यन्ती हि क्रिया तस्या भागौ पूर्वापरौ स्थितौ।
न तद्द्रष्टव्यमित्येतद्विमर्शः[9] पूर्वतो भवेत् ॥ ८३ ॥
यथा कर्तुः कुलालादेर्घटः कार्य इतीदृशः।
विमर्श इच्छारूपेण तद्वदत्रापि संस्थितम् ॥ ८४ ॥
सा स्थिता पूर्वतस्तस्य इच्छायाः प्रसरः कथम्।
यावन्न सूक्ष्म उल्लासश्चितः कार्योन्मुखः स्थितः ॥ ८५ ॥
तस्या अपि सामरस्ये व्यवस्थावान् स्थितः शिवः।
एवं भवप्रक्रियाया अपि सूक्ष्मतरा स्थितिः ॥ ८६ ॥

परं तत्त्वमित्याहुः। तच्च शब्दतत्त्वं विषयाख्यं कर्मरूपं ग्राह्यं वाक्तत्त्वं च करणरूपं ग्राहकं, तथा च ग्राह्यग्राहकयोरभेद एव परमार्थतत्त्वमिति तदेतत्सोपहासं प्रत्याह सर्वदर्शनेति। १ ग्राह्यतया। २ ग्राहकतया। ३ वाक्तत्त्वशब्दतत्त्वयोः। ४ सर्वशास्त्रानभिज्ञत्वं। ५ एवमित्यङ्गीकारे। ६ हस्तेनेत्युपलक्षणं तेनान्येषामपि कर्मेन्द्रियाणामेवमेव बोध्यम्। ७ ननु किमिदमुच्यते जडात्मनि ज्ञानशक्तिरिति, अत्र हि न स्वरूपद्वित्वमाश्रितं, येन स्वरूपं जडात्मकं, सा च स्वयं ज्ञानात्मिका शक्तिरिति। यैव हि ब्रह्मणो ज्ञानात्मिका शक्तिः सैव पश्यन्तीति शक्तिरूपा, न तु स्वतन्त्रा काचिदिति। तथा च न तस्यां काचनापि पूर्वोक्तदूषणावतारसरणिरित्यभ्युपगमद्वारेण स्वमतेन सिद्धान्तयति। ८ उन्मीलितमायुष्मतो विवेकचक्षुषा न कारणमत्र विघ्नो येन न पूर्णं विकसतीति भावत्वेनाह तावदित्यादि। ९ न शब्दोऽत्र शीर्षचालनन्यायेनाभ्युपगमेन द्रष्टव्यं द्रष्टव्यमेवेत्यर्थः।

स्थिता सा न पुनः सत्या वाचो वायुगमात्मनः ।
इष्यते ब्रह्मरूपत्वं[1] घटादेरपि कथ्यताम् ।। ८७ ।।

पश्यन्ती हि दर्शनक्रियात्मिका पूर्वापरीभूतावयवा, पूर्वं[2] चैतद्-द्रष्टव्यमिति विमर्शः कुलालादेरिव घटादिकरणेऽवश्यमिच्छात्मकः स्यात्, तद्वदत्रापि[3] सर्वमेतत्स्थितम् । एवं चेच्छा दर्शनक्रियायाः पूर्वा स्थिता, तस्याश्चेच्छाया अपि चित्तत्त्वसंबन्धिसूक्ष्मतरोल्लासमिष्टज्ञेयकार्यौन्मुख्य-लक्षणं विना प्रागुक्तन्यायात् कथं प्रसरः, तस्या अपि चितो निर्वृत्त्यौ-न्मुख्येच्छाज्ञानक्रियाक्रमव्यवस्थाया यत्सामरस्यमेकीभावः समावेशविषय-स्तत्र व्यवस्थावान् व्यवस्थाश्रयोऽक्रमः शिवभट्टारकः स्थित इति । एवं ज्ञानशक्तिताभिप्रायेणापि पश्यन्त्या भवलक्षणां प्रक्रियां प्रति सूक्ष्मतरा-न्यापि पररूपा स्थितिरस्ति, ततः साप्यनुमन्तव्या न तु वायुगमात्मिकाया वाचः सत्यास्तस्या ब्रह्मरूपत्वमेष्टव्यम् । एवमिष्यमाणे[4] भूतत्वाविशेषात् घटादेरप्येवमुच्यताम् ।। ८७ ।।

यथा[5] सर्वपदार्थानां भगवच्छिवरूपता ।
तद्वद्वागिन्द्रियस्यापि न पुनः सा परा दशा[6] ।। ८८ ।।
कण्ठादौ वदने वायोर्व्यापारो वाग्गतस्य सा ।
करणं, नादरूपादिशब्दस्यास्ति शिवात्मता ।। ८९ ।।
तस्यापि कथिता पञ्चतत्त्वदीक्षाविधौ क्वचित् ।
न वाच इष्यते तद्वत्तस्मात्सर्वं शिवात्मकम् ।। ९० ।।

यद्यपि सर्वार्थानां ज्ञानगोचराणां चिदन्तःप्रवेशात् चिल्लक्षण-परमेश्वररूपता परमार्थतो यथा तथा वागिन्द्रियस्यापि ज्ञेयसर्वार्थान्त-

---

१ यदि च सामान्यतयास्या वाचस्तर्हि घटादेरपि तथा प्रकल्प्यताम् । २ तस्याः क्रियायाः । ३ पश्यन्तीविचारे । ४ तस्या ब्रह्मत्वे । ५ ननु च सत्यमेवैतद्घटादेरपि कथ्यतामिति यत्सर्वार्थानां ज्ञानगोचरत्वाच्चिदन्तः-प्रवेशाच्चिन्मयत्वे परिपूर्णमखण्डमेव परमेश्वरत्वमिति, तच्च साम्येऽपि वाच इयान्विशेषः सत्त्वादेर्यदग्राह्यत्वमिति, सर्वार्थान्तर्भावस्तु सर्वत्र समान एवेति बुद्धयाद्यग्राह्यत्वविशेषेण तस्या एव ब्रह्मत्वमित्याशंक्याह यथेत्यादि । ६ 'न पुनः सा परा दशा' इत्यनेन तस्या अन्येभ्यो विशेषे सत्यपीति ध्वनितम् ।

र्भावादज्ञेयत्वेऽसत्त्वादेः, तथापि वागिन्द्रियदशापरा न भवति, मायाशक्त्या शिवाभेदाख्यात्या तदुत्थानात्। तथा हि कण्ठताल्वादौ वदनैकदेशे वायोर्योऽभिघातव्यापारः शब्दाविर्भावहेतू रुतं नाम तस्य सा करणम्, एषा च सर्वैव भेदमय्यपरावस्था। अथ नादरूपस्य स्थूलस्य परस्य च शब्दस्यास्ति मन्त्रात्मनः परमशिवात्मता तदिष्टा कथिता पञ्चतत्त्वदीक्षाविधौ दीक्षाशास्त्रे न पुनरेवं वाच इन्द्रियरूपायाः, परभावस्तन्मयत्वं वा जगतो युक्तम्, अतः सर्वं शिवात्मकमेवोपपन्नमिति शिवम् ॥ ९० ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवपादकृतौ श्रीशिवदृष्टिवृत्तौ
द्वितीयमाह्निकम् ॥

अथ

तृतीयमाह्निकम्

अद्वयवादः स्थितः[1], पश्यन्तीविचारादनन्तरं स्वयूथ्यानद्वयवादिनः[2] प्रतीदानीमारम्भः[3] । तथा च तैरुक्तम्—

'यस्या निरुपधिज्योतीरूपायाः शिवसंज्ञया ।
व्यपदेशः परां तां त्वामम्बां नित्यमुपास्महे ॥'

इति । तत्राह—

अथ[4] शक्तेः परावस्था यैर्भक्त्या परिगीयते ।
युक्त्या प्रकाशितो देवस्ततः[5] शक्तिदशा यतः ॥ १ ॥

लिङ्गविशेषान्यथानुपपत्त्या[6] शक्तित्वेनैवाभिमतस्यार्थस्य परावस्थारूपाभिधानं भक्तिरेव ततः परस्य शक्तिमतोऽभावात् शक्तिमदभिन्ना हि तत उद्धृत्यापि प्रयोजनवशान्निर्दिश्यमाना तत्पारतन्त्र्येण[7]

---

१ स्वसिद्धान्तेन निश्चयेन दृढीकृतः । २ स्वसमानजातीन् । ३ न तु निराकरणमित्यर्थः । ४ अयं भावः—शक्तिरिति पराधीनत्वादस्याः स्त्रीलिङ्गस्य पुंल्लिङ्गविशेषरूपत्वाच्च सिद्ध एव स्वयं तस्यास्तदधीनत्वे यत्परत्वाभिधानं सा कैवलं तत्तत्त्वोत्कर्षप्राख्यापिका भक्तिरेव । भक्तिस्तत्र प्रेमातिशयः रचना च । रचनया तैस्तदौत्कर्ष्यप्रख्यापनेन शक्तिमत्प्राधान्यमेव सूचितमित्यर्थः । ननु च यदि भक्तिरेव तद्व्यपदेशः परंतु शक्तिमानेवोत्कर्षेण ख्यापितोऽलं तर्हि तान्प्रति प्रत्याक्षेपकरणेनेत्यत आह युक्त्येति । युक्तिर्हि कांश्चित्सूक्ष्मदृष्टीन्प्रत्येवोपर्युक्ते इति तदुक्तिर्दूषणमेव सर्वोपकारकत्वाभावादित्यर्थः । ५ न च तेषां शक्तिरेव स्वातन्त्र्येण मतेति मन्तव्यमित्याह तत इत्यादि । ६ सामान्यं पुंलिङ्गं विनेत्यर्थः । ७ ननु च यदि शक्तिमतस्ततस्वातन्त्र्यरूपा शक्तिः—

'न वह्नेर्दाहिका शक्तिः पृथङ्निर्देष्टुमर्हति ।'

इति न्यायेन युक्तिबोधनार्थं भक्त्या वाभिधानं कथं संभवतीत्यत आह

तदनन्तरं निर्देशमर्हति। यतस्तैरेव[1] ततः परावस्थातोऽनन्तरं शक्तिदशा किंचिदुच्छूनतेत्यादिनोक्ता ततो यैः शक्तेः परत्वं गीयते तैस्तया धर्मभूतया धर्मी स्वाश्रयः स्वतन्त्रो वास्तवाभेदयुक्त्या देवः शिवः प्रकाशितः। अनिमित्तमेव[2] तु विशेषात्मनि स्त्रीलिङ्गे किमित्यभिनिवेशः, पुंस्त्वं[3] हि स्त्रीपुंसयोः सामान्यं लिङ्गं, नपुंसकं[4] पुनः शक्ततापर्यायरूपं नैवंविधविश्वेश्वरनिर्देशावसरे युक्तोपपादानमित्यभेदाभिधानार्थं शक्तितद्वतोः पुंस्त्वेनोपपत्तिः ॥ १ ॥

तथा तद्व्यपदेशश्चेद्व्यपदेशः शिवात्मकः।

तथा स्त्रीलिङ्गेन परमशिवस्यैव व्यपदेशो मतश्चेत्ततसोऽपि व्यपदेश उक्तन्यायाच्छिवशब्दात्मकः[5] कार्यः।

अभेदमेवाह—

न[6] शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ॥ २ ॥

शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीदृशान्।

शक्तिशक्तिमतोर्भेदः[7] शैवे जातु न वर्ण्यते ॥ ३ ॥

शक्त्या रहितः शून्यो न यद्यपि शिवस्तथापि कथमैक्यं तदाह न शक्तिर्व्यतिरेकिणीति। तथाहि तेन तेनैव वैचित्र्येण ईदृशानति-

---

तत्पारतन्त्र्येणेति। तस्याः स्वयं स्वातन्त्र्यं व्याघातविरोधादिदोषपसङ्गादित्यर्थः। १ न च तेषामेतदनभिप्रेतं येन तदुक्तिरन्यवादिवत्प्रतिक्षेप्यपक्षे व्यवतिष्ठेतेत्याह यतस्तैरित। २ विशेषेण तत्पक्षं व्यवस्थापयति अनिमित्तमित्यादिना। ३ का हानिरत्रेत्याह पुंस्त्वं हीति। ४ नन्वत्र यदि स्त्रीलिङ्गव्यपदेशे विशेषरूपत्वाद्दोष आशंक्यते तर्हि पुंलिङ्गेऽपि शक्तिमत्स्वरूपप्रख्यापके दोष आपतत्येव स्थूलदृशामिति निर्दोषं नपुंसकलिङ्गमेव गृह्यतां येन शक्तिरिति स्वातन्त्र्यं नपुंसकलिङ्गेनैव तन्निर्देष्टुमर्हतीत्यत आह नपुंसकमिति। ५ पुंलिङ्गं सामान्यमिति न्यायात्। ६ न चानयोः परस्परं भेदो युक्तः येन स्त्रीलिङ्गव्यपदेशोऽप्युपपत्स्यत इति स्वमतेन सिद्धान्तयति। ७ शैव इति प्रामाणिकत्वकथनार्थं, तेन च तेषामपि तद्व्यवस्थितिरेव दर्शिता नान्यदर्शनस्थितिरत एव वृत्तिकारेण स्वयूथ्यानिति कथितम।

दुष्करानिच्छामात्रेण शक्तः शिवः कर्तुमिति व्यवहारेऽप्यभेदः, शक्तितद्वतोर्भेदाख्यानुपपद्यमानत्वात् शैवे न कदाचिदवान्तरादिभेदेष्वपि वर्ण्यते यथान्यत्राप्रामाणिकदर्शनेषु ॥ ३ ॥

तदेव विचारयन्नाह—

शक्तेरेव स्वतन्त्रत्वात्कर्तुं भावान्विचित्रकान् ।
सामर्थ्यं यदि कल्प्येत तन्नामानन्त्यमेव वा ॥ ४ ॥
भेदे[1] हि शक्तिः किं कार्यं करोत्युत च शक्तिमान् ।

तत्र यदि शक्तिस्तत्किमसौ[2] शक्ता करोति अथाशक्ता, अशक्तस्य करणेऽतिप्रसङ्गः[3], शक्तत्वे[4] तस्याः शक्त्यन्तरयोगे शक्त्याश्रयस्य शिवस्यैव[5] शक्तिरिति नाम स्यात् । अथ[6] शक्त्यैव सत्या भिन्नशक्तियोगस्तत्सैव भिन्नशक्तिः कार्यं कुर्यात्, कथं वा कुर्यादशक्ता, शक्तत्वे शक्त्यन्तरकल्पनेनानवस्था स्यात् आनन्त्यापत्तेः ॥

---

१ अभेदेन व्यवस्थाप्य भेदं तयोः खण्डयितुमाह भेदे इति । २ ननु सत्यमेतत्—

शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते ।'

इति, तथापि यदेव शक्तिमतः शक्तित्वं नाम स्वातन्त्र्यं तेनैव तस्य शक्तिमतोऽपि स्वरूपलाभेऽपि शक्तिप्रसर इत्यलं शक्तिमत्स्वरूपविस्रम्भेण । येनोक्तं—

'तथा तद्व्यपदेशश्चेद्व्यपदेशः शिवात्मकः ।'

इत्यादि, तत्र पृच्छति तत्किमसौ शक्तेति । ३ शून्यादपि सर्वभावोत्पत्तिः स्यात् । अनिष्टापत्तिः प्रसङ्गः । ४ तदेव शक्तत्वं यत्स्वात्मनि शक्त्यविच्छेदः, शक्तिसमवायं विना शक्तत्वस्यैवानिर्वाहात् । ५ यदि च शक्तियोगः शक्तेस्तर्हि फलितं ममैव मनोरथकल्पलतयेत्याह शिवस्यैव शक्तिरिति नाम स्यादिति । ६ अथेदानीमभेदपक्षे न कथंचनापि शक्तिव्यपदेशो यदि शक्तिवादी भेदपक्षमनयोराश्रृणोति तत्र विवेचयितुमाह अथेत्यादिना । यदुक्तं शक्तिमतः शक्तत्वं धर्मभूतं स्वभावकल्पमेव येन शक्तिमानिति व्यपदेशः । तन्न, भिन्नैव शक्तिः शक्तिमत इति तत्रापि पृच्छति तद्भिन्नशक्तिरिति । अत्रापि पूर्ववन्न्यायः, अशक्तस्य करणेऽतिप्रसङ्गः शक्तत्वे पुनस्तस्याप्यन्यत्तस्याप्यन्यदित्यानन्त्यापत्त्यानवस्थाप्रसङ्ग इति ।

किंच[1]—

शक्तिमानेव शक्तिः स्याच्छिववत्करणार्थतः ॥ ५ ॥

शक्तेः[3] स्वतन्त्र्यकार्यत्वाच्छिववत्वं न क्वचिद्भवेत् ।

शक्तिरपि शक्त्यन्तरयोगात्कुर्वती शक्तिमानेव स्यात् । करणलक्षणादर्थात्प्रवृत्तिनिमित्तात्कर्तृत्वादित्यर्थः, यथा शिवभट्टारकः[4] । शक्तेश्च स्वतन्त्रं स्वनिबन्धनं कार्यं नान्याश्रयमिति[5] शिवता नान्यत्र क्वचिद्भवेदिति शैवदर्शनानुपपत्तिः स्वयूथ्यानाम् ॥

मुञ्चतोऽपि निजां शक्तिं स्वातन्त्र्ये[6] ज्ञानमापतेत् ॥ ६ ॥

---

१ न केवलं शक्तेः शक्त्यन्तरयोगेन शिवस्य शक्तिरिति भवदभीष्टमेव नाम निर्वहेद्येन स्ववचनविरुद्धव्याघातदोषोऽप्यापतेदित्याह किंचेत्यादिना । २ शक्तिमत्त्वं हि कर्तृत्वमुच्यते, शक्तित्वं हि करणत्वं, शक्तेश्च शक्तता योगे स्फुटमेव तस्या एव शक्ततायाः करणत्वमेतस्याश्च तद्योगात्कर्तृत्वमिति शक्तिरपि शक्तिमद्व्यपदेशमर्हति न काचनापि शक्तिरिति स्यादिति,येन क्रियते तत् करणं इति । ३ ननु किमिदमुच्यते शक्तियोगे शिवस्यैव शक्तिरिति नाम, तथा 'शक्तिमानेव शक्तिः स्यात्' इति च, यतस्तदेव शक्तेः शक्तित्वं यत्स्वातन्त्र्येण स्वात्मन्येव स्वनिबन्धनमेव कार्यकारित्वं, तथा च कार्यत्वमपि स्वतन्त्रं तदेकाकारं नान्याश्रयमिति तदेतदपि विघटयति शक्तेरित्यादिना । ४ करणलक्षणेनार्थेन शक्त्या यथा शिवभट्टारकस्य कर्तृत्वमित्यर्थः । ५ तथा च कुतोऽयं निर्देशस्तैः कृतः—

'शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते ।
शक्तयोऽस्य जगत्सर्वं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥'

इति ॥ ६ ननु च न शैवदर्शनानुपपत्तिः स्वयूथ्यानां येनोक्तं 'शिवता नान्यत्र क्वचिद्भवेत्' इति । अस्त्येव शिवताया विषयः यावद्धि शक्तित्वसमावेशः तावत्केन शिव इति व्यपदिश्यते, तद्व्यतिरेके तु विविक्तत्वाच्छिव इति व्यपदेशः केनापह्नूयत इति विविक्तविषयत्वात्स्फुटमनयोः स्वरूपलाभोऽस्त्येव । तत्राह 'स्वातन्त्र्ये ज्ञानमापतेत्' इति । अयं भावः, यद्यत्र भवद्भिर्विषयभेदेन व्यवस्थाप्यते तर्हि तावत् 'शक्त्या गर्भान्तर्वर्तिन्या शक्तिगर्भं परं महः' इति लक्षणं शिवभट्टारकस्य भवदनुरोधेन च्छिन्द्यात् । छिनत्तु वा नास्त्यत्र तव कोपि भरः । तथापि 'स्वातन्त्र्ये ज्ञानमापतेत्', स्वातन्त्र्यं हि

शक्ति मुञ्चतो विविक्तस्य शिवभट्टारकस्याभ्युपगमे[1] .... तत्त्वात्स्वातन्त्र्य ज्ञेयनिष्ठत्वाभावस ... ... माप्नोति ज्ञेयाप्रकाशनात् तच्च ... ... अथवा निजशक्तित्यागे ....हि तस्य स्वस्वातन्त्र्यस्य......तथैव ज्ञानं स्यात्......शक्तिमतः शक्तेः पृथग्भावेन प्रतीतिरस्ति केवलमेकस्मिन्नेव यस्मिन् वस्तुनि प्रतीतेः किंचिद्भवति[2] तत्समानं शक्तं व्यवहारसारमेवमुच्यते[3] शक्तिमानिति[4] ॥

तदाह––

न[5] हिमस्य पृथक् शैत्यं नाग्नेरौष्ण्यं पृथग्भवेत् ।

शक्तिः शक्तत्वं शक्तस्य धर्मः, न च धर्मो धर्मिणो भिद्यते तथा[6] हिमवह्न्योः शीतोष्णस्पर्शौ न पृथगुपलभ्येते ॥ ६ ॥

स्वतन्त्रस्य शक्तिमतः स्वभावभूतो धर्मः स्वभाववन्तं विना न कथनार्हमिति भावः । १ अभ्युपगमे' इति प्रभृति 'ज्ञानं स्यात्' इत्यन्तं निम्नलिखितः पाठः कपुस्तके दृश्यते––नास्त्यत्र भवतो विप्रतिपत्तिसम्भावनापि केवलं स्वातन्त्र्ये शक्तिमन्तं विनापि शक्तौ स्वभावभूते धर्मे ज्ञानं स्वतः संभावनानिष्ठापत्तिरायाति, न चेष्टा, नहि भवतां––२ आधिक्यमिव तस्याः स्पन्दस्वरूपं किंचिच्चलनात्मकत्वात् । ३ किंचिच्चलत्ताव्यवहारसारम् । ४ इदमत्र तात्पर्यम्, एकमेवेदं स्वस्वभावाख्यं शक्तिगर्भं शक्तिमत्स्वरूपं तत्रैतादृशे यत्किंचित्प्रतीतेराधिक्यं यदा स्फुरति, तत्तदा शक्तिरिति भण्यते । तदाश्रयत्वेन च तत्समानं तदेकसङ्घट्टमीदृग्व्यवहारसारं चलत्तात्मकस्वरूपाभासनविश्रान्ति सामरत एव शक्तमिति तच्छक्तिसहितं शक्तिमानिति कथ्यते, न तु शक्तिशक्तिमतोर्वस्तुतो भेदो लक्ष्यत इति । ५ नन्वस्तु शक्तिशक्तिमतोरभेद एव तथापि यथाग्नितदौष्ण्ययोर्हिमशैत्ययोश्चाभेदेऽपि औष्ण्यशैताभ्यामेव व्यवहारो नाग्निना नापि हिमेन तथानयोरपि चोभेदेऽपि शक्तयद्वयवाद एव युक्तियुक्तः, न शिवाद्वयवाद इत्याशङ्क्याह न हिमस्येति । अयं भावः––सत्यमेव शक्त्यैव व्यवहारदर्शनात्तदद्वयवाद एव वक्तुं युक्तमित्येतद्यद्यपि तथापि न धर्मिणं विना धर्मो व्यवहारशक्तः । न हि हिमाग्नी विना शैत्यौष्ण्यस्पर्शो जातुचित्संभवति तद्व्यवहारेऽपि । तथा शक्तिसंबन्धेऽपि सर्वत्र तद्व्यवहारदर्शनान्न तथा धर्मिणं व्यवधाय व्यवहारो युक्त इति शिवाद्वयवाद एव युक्तियुक्तोऽङ्गीकर्तव्य इति । ६ यद्यपि हिमवह्न्योरत्र दृष्टान्तत्वेन

मन्त्रस्तम्भनतायां[1] हि नासौ वह्निस्तदोच्यते । ७ ॥
हेमादिवद्भास्वरं तद्द्रव्यं तैर्व्यभिचारितम् ।
यद्यौष्ण्याव्यतिरेकत्वे दृष्टान्तो दाहकाश्रयात् ।। ८ ॥

मन्त्रेणौष्ण्यस्तम्भनं[2] यस्य तथा शक्तिव्यतिरेकता शक्तिमत उच्यते। तन्न इदं वह्नित्वं, तदभावे सत्यग्नेरौष्ण्यं नोपलभ्यते यतस्तदानीमसौ वह्निस्तेजोमयत्वेऽपि यथा सुवर्णादि द्रव्यं भास्वरम्। अथ तैरेव हेमादिभिरग्निसंज्ञतेजोमहाभूतात्मभि(ग्निसहचरितै)रेव दृष्टान्तो यदि (शक्तिव्यतिरेकता शक्तिमत उच्यते तन्न दोषः यतो) दाहकत्वेन श्रित उष्णः सन्(स)वह्निः शक्तिव्यतिरेके दृष्टान्तीकृतो न वह्निमात्रम् ॥ ८ ॥

शैवः[3] सद्भिर्वाच एव पश्यन्त्यादिक्रमे स्थिताः ।
कल्पितास्तैरशैवत्वमात्मनः प्रतिपादितम् ।। ९ ।।

अन्यच्च यैः शक्तिवादिभिः—

'यस्या निरुपधिज्योतीरूपायाः शिवसंज्ञया ।
व्यपदेशः……………………'

इत्येवमभिधानात् शैवदर्शनस्थितैरपि सद्भिर्वाच एव क्रमव्यवस्थिताः पश्यन्तीमध्यमावैखरीसंज्ञाभिर्विश्वात्मतया कल्पिताः, यदाहुः—

व्यपदेशो युक्तः तथाप्यनुभवशालिनामौत्कर्षख्यापनाय दार्ष्टान्तिकत्वेन योजित इति बोध्यं तदाह तथेति। १ ननु च यथा मन्त्रेणौष्ण्यशक्तिस्तम्भनेऽपि वह्नेर्भासमानत्वात् वह्निरयमिति सर्वोऽपि प्रत्येति, तथा शक्तिव्यतिरेकेऽपि तस्य व्यवस्थानात् कथनुक्तं 'मुञ्चतोऽपि' इत्यादि। तथा, यथा च तत्र पृथगेवान्यथा कथं मन्त्रेण स्तम्भनं सिद्ध्येदिति, तथा च कथमनयोरभेद इत्यत्र समर्थयति मन्त्रस्तम्भनेत्यादि। २ मन्त्रेणौष्ण्यस्तम्भनं यस्य तस्य वह्नेर्यथा शक्तिर्व्यतिरिक्तैव तथा तच्छक्तिस्तम्भनतायां वह्निः स्वरूपेण तिष्ठते, न तु तेनैव वह्निरिति ज्ञानम्। तथा शक्त्यपगमे शक्तिर्व्यतिरिक्ता। न च शक्त्यैव शक्तिमत्स्वरूपव्यपदेश इत्यर्थः। ३ अथेदानीं स्वातन्त्र्यापरपर्यायशक्त्यद्वैतपक्षेऽनुपपन्नेऽपि चान्ये शक्तिवादिनः पुनरपि प्रत्यवतिष्ठन्ते। पश्यन्त्यादिवाच एव समन्ताद्विश्वमागूर्य यतो वर्तन्ते ततो वाचः शक्तिरूपत्वाद्वागद्वैतमयं शक्त्यद्वैतमयं सर्वं विश्वम्। अलं शिवाद्वैतवादेनेत्यत आह शैवैरित्यादि।

"..................यावन्नोन्मेषभागणुः ।
न तावदर्थे वर्तेत स चोन्मेषः क्रिया मता ।
क्रिया च नानारूपैव..................."

इत्युपक्रम्य—

'स्वस्वभावस्थितिं मुक्त्वा तस्मान्नान्यास्ति सा दशा ।
शिवे यस्या न वाग्रूपं सूक्ष्ममप्राप्तसंनिधिः ॥'

इति तैरशैवत्वमात्मन उक्तम् ॥ ९ ॥

तथाहि—

शैवे वाच इन्द्रियत्वमथ[1] नादादिनोदिता ।
तदभ्यासे फलावाप्तिः सूक्ष्ममन्त्रस्वरूपता ॥ १० ॥
कथिता कालपादादौ[2] नादाख्यं यत्परं त्विति ।
परापरादिभेदश्च तत्रैव[3] प्रतिपादितः ॥ ११ ॥
इत्यनेन वर्णितात्र वाच एव परात्मता ।

शैवे हि वाचः सांख्य इव कर्मेन्द्रियत्वमेवात्यन्ताधस्तनदशायाम् । अथ 'नादे प्रलीनचित' इत्यादिना वाच एव फलावाप्तिः कथिता सूक्ष्ममन्त्रात्मकता कालोत्तरादौ—

'नादाख्यं यत्परं बीजं......... ।'

इत्यादिना परापरादिभिन्नता चोक्ता इति, तस्मादनेन शैवग्रन्थेन वाच एव परात्मता कथमयुक्ता । परं त्विति तुशब्दः पादपूरणे ॥

नैतन्न[1] वाचः कथितं पतिशब्दस्य वर्णितम् ॥ १२ ॥
शब्दस्य विषयाख्यस्य न कदाचिदुदाहृतम् ।

---

१ अथेत्यत्रायं भावः,—वैयाकरणैर्हि करणरूपा बुद्धीन्द्रियादप्यतिनिकृष्टकर्मेन्द्रियरूपा पशुप्रमातृभिस्तिर्यगादिभिः साधारणा ध्वनिजनिकाहङ्कारवृत्तिरेव काचिद्वाक् पाण्यादिवदभ्युपगता कथं तत्र परत्वमिति । अथ सामान्यं स्थूलसूक्ष्मरूपमाश्रित्य पृच्छत्यथेत्यादि । २ शैवतन्त्रे एव । ३ कालपाद एव । १ अत्र हि अहमिति वाक् शुद्धकर्तृत्वप्राणा असंकुचितमहामन्त्रमयी शब्दनरूपा या तस्या एवैतदुक्तमित्यर्थः । ये पुनरमी मायीया वर्णाः शब्दात्मानस्ते घटादिस्थानीयास्तदुत्थापकं चाविकल्पसविकल्परूपं पश्यन्तीमध्यमात्मकं ज्ञानं ज्ञानान्तरस्थानीयं च तन्निर्वर्तकं

तदेतन्न, नहि वागिन्द्रियस्य बद्धाणुव्यवस्थितस्य तत्तत्र[1] कथितम्, विषयाख्यस्य वा शब्दस्य तत्परत्वं कदाचित् क्वचित्प्रतिपादितम्, अपि तु पतिभावे ईश्वरतासमापत्तौ यो महामन्त्रमयः शब्दनात्मा तस्योक्तम् ॥१२॥

तथा चाह खेटपालः शब्दराशेर्विशेषताम् ॥ १३ ॥
स्वायम्भुवस्य टीकायां बाढमित्यादिना गुरुः ।
तथा मतङ्गटीकायां व्याख्यानिगुरुणोदितम् ॥ १४ ॥
मन्त्राणां परशब्दानामुक्तं[2] वाचो न जातुचित् ।

खेटपालगुरुः श्रीस्वायम्भुवशास्त्रटीकायां 'किं शब्दराशेर्विशेषोऽस्ति' इत्याक्षिप्य, 'बाढम् एकः शिवात्मकोऽन्यश्च पाशात्मकः' इत्यादिना परत्वेन शब्दराशेर्मन्त्ररूपस्य कर्तृशक्ताववस्थानात् विशिष्यमाणतानाह न तु शब्द इत्येव कृत्वा शब्दराशेर्निर्विशेषत्वम्। तथा व्याख्यानिसंज्ञकेन गुरुणा मतङ्गटीकायामेवमेव विशिष्टमुक्तम्। तथोक्तं 'प्रमातृभूमिगतानां मन्त्राणां परभूमिगतानां च शब्दानां न तु वागिन्द्रियस्य कदाचित्, वागिन्द्रियं हि मायापद एव स्थितं, शब्दस्तु परतन्मात्ररूपः परव्योममहाभूतमयः परमेश्वरस्य पञ्चब्रह्मविन्यासे वक्त्रमुच्यते'। दर्शितं चैतदीश्वर-प्रत्यभिज्ञायाम् ॥

तत्र[3] वा तदुपायत्वात्परत्वेनोपचारिता ॥ १५ ॥

च वागिन्द्रियं पाण्यादिस्थानीयं द्वैतात्मकमायापक्षनिक्षिप्तं च तत्कथमिव परतत्त्वं स्यादिति। ननु यत्र तत्रापि स्वकृत्यप्रसाधकत्वं दृश्यते तत्र किं कथनीयम्। अत्रोच्यते तत्तु 'अपि त्वात्मबलस्पर्शात्' इति परत्वबलस्पर्श-कृतमिति। १ तत्र, कालोत्तरादौ। २ उक्तं वाचो न जातुचिदिति, अत एव भट्टनारायणेनाप्युक्तं——

'सुगिरा चित्तहारिण्या पश्यन्त्या दृश्यमानया ।
जयत्युल्लासितानन्दमहिमा परमेश्वरः ॥'

इति। अत्र च पश्यन्तीशब्देन श्रीसदाशिवभूमिर्ज्ञानशक्तिस्वभावा योक्ता असौ महापश्यन्तीनां प्रत्यगात्मरूपाणामविभागात्मिका परममहापश्यन्ती, तया च योऽसावानन्दमहिमा परमस्वातन्त्र्यात्मोल्लसनीयः सा भगवतः परा वागिति। ३ ननु किमिदमुच्यते——

'शैवैः सद्भिर्वाच एव पश्यन्त्यादिक्रमे स्थिताः ।'
'तैरशैवत्वमात्मनः प्रतिपादितम्'

किरणेषु तथा चोक्तं नादबिन्द्वादिनेदृशम् ।

अथ परमन्त्रशब्दप्राप्त्युपायत्वात् परत्वं पश्यन्त्या एवोपचारयोगेन मतम् । तथा च श्रीकिरणसंहितायां नादबिन्द्वादिनैवंविधमुपचारवस्तु कथितम् ॥

तदुपायात्परत्वं चेद्दीपादेरप्युपायता ॥ १६ ॥

किरणादावन्यथा[1] तदुक्तं, तत्र तदुपायमात्ररूपत्वात्परत्वं दीपादेरपि ज्ञानोपायत्वात्परताप्रसङ्गादित्येषां शैवदर्शनस्थानां पश्यन्ती[2]-परत्ववादोऽनुपपन्नः । पूर्वोक्तनीत्या च स्वतन्त्रशक्तिवादः प्रकृतो[3]-ऽप्येषामयुक्तः ॥ १६ ॥

तस्मात्समग्राकारेषु[4] सर्वासु प्रतिपत्तिषु ।
विज्ञेयं शिवरूपत्वं स्वशक्त्यावेशनात्मकम् ॥ १७ ॥

तस्मात् शक्तिमात्रवादस्यानुपपन्नत्वात् सर्वासु प्रतीतिषु इन्द्रियमनोमात्रजन्यासु ये स्फुरन्ति आकारास्तेषु सर्वेष्वेव शक्तिमद्भगवच्छिवरूपत्वं स्थितं ज्ञेयं पूर्वोक्तसर्वनिजशक्तिसामरस्यमयमुपदेशगम्यम् ॥ १७ ॥

इत्यादि । यतः पश्यन्तीज्ञानशक्तिमयीत्वादस्याः परसंविदुपायत्वात्परत्वमुच्यते । दृश्यते हि उपायत्वेप्युपेयतारोपः, यथा––परेशविमर्शोपायत्वाच्छास्त्रस्य संविद्विमर्श एव शास्त्रमिति भण्यते तथेहापीत्याशङ्क्याह तत्र वेत्यादि । १ यदा सदाशिवसारत्वेऽहमिति चमत्कृतिरन्यःकृतानन्तविश्वेदन्ताचमत्कृतिपूर्णवृत्तिः स्यात्पश्यन्ती स्वात्मानं परसंवित्परामर्शात्मकं करोति तदा तदुपायत्वात्परत्वं केनापह्नूयत इत्याहान्यथेति । २ पश्यन्त्यामेव तात्पर्येण यत्परत्वं तद्वाच इत्यर्थः । ३ अनेन पश्यन्तीपरत्वोपगम एषामप्रकृत एवेत्यर्थः । ४ इदानीं सर्वमतानुपपत्त्या यत्सिद्धं तत्कथयति तस्मादिति । तदिदानीं शक्त्यद्वयवादः कथञ्चनापि नोपपन्न इति स्थिते यत् फलितं तदाह तस्मादिति, आकारः पदार्थवपुः, प्रतिपत्तिस्तदाकारप्रतिज्ञानकारणं, तदेवं स्थितं द्वितत्त्वमयमेव सर्व विश्वं तदन्तर्भावात्सर्वस्य तेन सर्वमेव यत्किंचित् षडध्वजातं तत्सर्वमेव ग्राह्यग्रहणमयमेव । तत्र सर्वत्र शिवरूपत्वं तत्सर्वं शिवमयमेव । आधारनिर्देशस्तु उपदेश्यजनापेक्षया । ननु 'नाप्रकाशः प्रकाशते' इति नीत्या सिद्धमेवेतत् कोऽत्र चमत्कार इत्यत आह––'स्वशक्त्यावेशनात्मकम्' इति, पञ्चशक्तिसामरस्यात्मकं यच्छिवतत्त्वं तदेव सर्वं घटादिपदार्थजातमपीत्यर्थः ।

स्वनिष्ठे शिवता देवे पृथिव्यादावपीदृशम् ।

यथा स्वनिष्ठे शिवतामात्रस्थितौ परमेश्वरे शिवता सर्वशक्तिविलोलता, तथा पृथिवीपर्यन्तायामपि तादृशमेव रूपम् ॥

पिण्डे[1] वा कटिकायां वा किं सुवर्णत्वमिष्यते ॥ १८ ॥

न भूषणे कुण्डलादौ यथा तत्र स्वशक्तितः ।
रूपकत्वं गतं हेम न शक्तयैव स्वतन्त्रया ॥ १९ ॥

तथेच्छया समाविष्टस्तथा शक्तित्रयेण च ।
तथा तथा स्थितो भावैरतः सर्वं शिवात्मकम् ॥ २० ॥

नहि, तत्तद्भूषणादिव्यक्तावयवविकारमप्राप्त एव पिण्डे कटकादिरूपस्थित एव सुवर्णता न तु कुण्डलादाविति[2] वक्तुं शक्यम्, अपि तु सर्वत्रैव साम्येन स्वयं विकारापत्तिशक्तियुतं हेमैव स्थितं, पिण्डाख्यं सुवर्णमेव तथा शक्तिमत्प्रसरति। कुण्डलमपि पुनरन्यथा प्रसरति शक्तिमदेव, न तु शक्तिरेव स्वतन्त्रा हेम्नः तथात्वकारणम्। तस्यास्तद्व्यतिरिक्ताया अनुपलक्षणात्। दृश्यमानहेमरूपत्वे च शक्तेर्नाम्नि विवादः, तस्या अपि च पुनः कुण्डलादिगमने शक्तिरेष्टव्येत्यादि[3] प्रागुक्तम्। एवं सुवर्णवत् परमेश्वर एव पूर्वोक्तेच्छादिशक्तिमान् तथा तत्त्वभुवनकार्यकरणाविप्रकारवैचित्र्येण सर्वैः पदार्थैरित्थंभूतलक्षणैः स्थितोऽतः शिवात्मकमेव सर्वं न तु शक्त्यात्मकम्। व्यावहारिकशक्तिभेदाश्रयणे तु शक्त्यात्मकमुक्तं—

'शक्तयस्तु जगत्कृत्स्नं ……… .'

इति, वस्तुतस्तु शिवात्मकमेव ॥ २० ॥

इत्युक्तेऽत्र समाक्षेपः पक्षस्यास्य विधीयते ।
आदौ तावद्विकारित्वं शिवतत्त्वस्य जायते ॥ २१ ॥

नानाविकाररूपेण जडतैवमवस्थिता ।
तथा सावयवत्वं च पराधीनत्वमेव च ॥ २२ ॥

---

१ एतदेव दृष्टान्तप्रदर्शनद्वारेण समर्थयति पिण्डे वेत्यादि ॥ २ व्यक्तावयवविकारं प्राप्ते । ३ अनवस्थादि ।

क्षीरवत्परिणामित्वे शुद्धाशुद्धपरापर-
न्यूनत्वादि विनाशित्वं तथोल्लङ्घननिष्कृतिः ॥ २३ ॥
यत्रोपरि न हस्तोऽन्यन्नेयमीश्वरसंनिधौ ।
तत्र पादविहारादेः स्फुटमेव निषिद्धता ॥ २४ ॥
एवं सति समग्रस्य व्यवहारस्य भङ्गिता ।
तथैवं संप्रवृत्तौ तु निमित्तकलनापतेत् ॥ २५ ॥

एवं शिवात्मकत्वे सर्वस्यैव उक्तेऽस्मिन् सति परैरस्य पक्षस्य बहुमुखमाक्षेपः क्रियते । विश्वात्मकत्वे चिन्मयस्य शिवतत्त्वस्य शश्वदेवोपचयापचयरहितस्याभिमतस्य विकारिता मृदानिसाम्येन प्राप्ता, इत्ययमेव प्रथमतो महान् दोषः । पृथिव्यादिवेद्यवस्तुनानारूपेण चावस्थाने जडताऽस्य । तथा तद्वत् सावयवत्वम् । चिदेकरूपस्यापि ईश्वरस्यापि चोत्पत्तिविनाशेषु अन्यापेक्षतया भोग्यभावेन च परायत्तत्वम् । क्षीरदधिवत्परिणामवादाभ्युपगमे शुद्धशुद्धादिविरोधिरूपापत्तिः । यथा क्षीरं शुद्धं मूत्रत्वेन परिणतमशुद्धं, यथा प्राकृतदशायां परता महत्त्वं च । कार्यकलापावस्थाने तु अपरता न्यूनत्वं च । तथा पूर्वावस्थाननाशे तदभेदात् तस्यैव नाशोऽसत्कार्यवादाश्रयणे वा । तथा पृथिव्याः शिवरूपायाः पादलङ्घनाष्ठीवनादिविषयत्वे प्रायश्चित्तापत्तिः । यस्मिन् व्यवहारे संनिहिते ईश्वरेऽन्यस्य तथैव चोपरि हस्तोऽन्यत् काष्ठादि च न नेतव्यं तत्र पादन्यासादिक्रिया निकृष्टत्वात् दूरोत्सारितैव । एवं च पादविहारादेर्विरोधे सर्वव्यवहारोत्सादः । शिवभट्टारकस्यैव च विश्वात्मनावस्थानप्रवृत्तौ निमित्तं विचार्यं तस्य कर्माद्यविषयत्वात् ॥ २५ ॥

अन्यच्च—

नानावादैः स्वसिद्धान्तैः साकमत्र विरोधिता ।
सर्वभावशिवत्वेन नास्तिता बन्धमोक्षयोः ॥ २६ ॥
तदभावाद्देवगुरुशास्त्रोच्छेदो भवेत्तराम् ।
निरर्थकत्वं शास्त्रस्य करणे तन्निरूपणे ॥ २७ ॥
सर्वेषामेव मुक्तत्वे स्थिते कस्योपदेश्यता ।
धर्माधर्मौ न संबद्धौ शिवस्य न तयोः कृतिः ॥ २८ ॥

ततश्च शिवधर्मादेर्वेदादेरकृतार्थता ।
निमित्तसमवाय्यादिकारणेषु समानता ।। २९ ।।

सर्वशिवत्ववादे सर्वैर्दर्शनैः स्वसिद्धान्तेन च सह विरोधः । तत्रैवमनिष्टत्वात् तेषामपि चान्यार्था(भावा)च्छैवत्वम् । स्वसिद्धान्तेऽपि च मायाप्रधानकर्मादेः पृथग्भूतस्य जगत्कारणत्वेनोक्तेः । सर्वेषां च भावानां शिवत्वाभ्युपगमे प्राणिनोऽपि सर्वशक्तित्वात् नित्यनिर्मुक्ता इति बन्धमोक्षाभावः । ततश्च हेयोपादेयादिविभागाभावात् देवगुरुशास्त्रलक्षणपुरुषार्थप्राप्त्युपायोच्छेदो लोकायताधिक्येन भवेत्, तस्य हि कदाचित् दृष्टार्थे तदभ्युपगमः स्यात्, सर्वशिवत्वे तु कः कस्योपायः । तथा च शास्त्रस्य करणे निरूपणे व्याख्याने श्रवणे च निरर्थकत्वम् । सर्वेषामेव शिवत्वेन मुक्तत्वात् कस्य शास्त्रस्योपदिश्यमानता । धर्मार्थमपि शास्त्रमयुक्तं शिवस्य कार्ममलाभावान्न धर्माधर्मौ समवेतौ, न तु तयोः शिवे करणं मिथ्याज्ञानरागादिकारणत्वात् प्रवृत्तीनाम् । एवं च शिवधर्मादीनां वेदस्य च धर्मार्थत्वाभावादकृतप्रयोजनता । तथा समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणेषु शिवत्वेन विशेषः शास्त्रान्तरोक्तः परिदृश्यमानश्च न स्यात् ।। २९ ।।

किं च--

पृथिव्यादिकल्पनया कल्पनावान् शिवो भवेत् ।
शिवतत्त्वे सानुभवे पश्यन्तीतुल्यता तदा ।। ३० ।।

इच्छावत्कार्यनिष्पत्त्या पुनरिच्छान्तरोद्गमे ।
शिवस्य हेतुर्वक्तव्यो यदर्थं सा नवोद्गता ।। ३१ ।।

विश्वस्यासत्यरूपत्वं यैर्वाक्यैर्वर्णितं क्वचित् ।
शिवोक्तैस्तैर्विरोधः स्यात्सर्वसत्यत्ववादिनः ।। ३२ ।।

पृथिव्यादिरूपतयात्मानं परिकल्प्य तथास्ते इति मते कल्पनावान् शिवभट्टारकः प्राप्नोति । निर्विकल्पश्च स इष्यते, विकल्पानां भिन्नवस्तुशून्यत्वेनाविद्यारूपत्वात् । अथ न सविकल्पं शिवतत्त्वम्, अपि तु सानुभवम्, अनुभवो हि नाऽयथार्थो भवति । एवंरूपे तस्मिन् किमसावनुभवति, किमात्मानमुत परात्मानमपि, किमननुभूतमुतानुभूतम् । अनुभाव्यानुभावकयोश्च भेद एव, इत्येवमादिपश्यन्तीविषयोक्तदूषणावसरस

विशिष्टेच्छावशाच्चाभीष्टे यज्जगल्लक्षणकार्यसंपत्त्या हेतुभूतया इच्छाकारणविरतौ पुनः स्थितिप्रलयादौ पटादिविज्ञाने वा इच्छान्तरोद्गमे को हेतुः कः प्रयोजको यत्प्रेरितस्य शिवस्य पूर्वस्वभावनिवृत्तावपूर्वस्वभावान्तरोदये चेच्छा नवनवा प्रवर्तते। सर्ववस्तूनां च शिवैकरूपत्वे सत्यत्वं स्यात्, एवं च मायेन्द्रजालोपमत्वं जगतः पारमेश्वरैरेव शास्त्रैर्यद्वर्ण्यते तद्विरुद्धं स्यात् ॥ ३२ ॥

अत्राह––

इत्याक्षेपरक्षणार्थमत्र प्रतिविधीयते।

ईदृशात्परकृतान्महाक्षेपात् स्वदर्शनस्य रक्षणार्थमस्य वाक्षेपस्य रक्षणार्थं निवारणार्थमत्राक्षेपे सति स्वदर्शनेऽत्र वा समर्थनं क्रियते ॥

चिदात्मनो[1] हि स्थूलस्य सूक्ष्मस्याथ विकारिता ॥ ३३ ॥

क्षीरमायाप्रकृतिवत्तस्य चेच्छैव यादृशी।

परस्य तादृगात्मत्वमुत्पद्येतात्र योगिवत् ॥ ३४ ॥

चिदात्मनः स्थूलत्वे[2] क्षीरस्येव दधिनिष्पत्तौ जगन्निर्माणे विकारिता

---

१ इत्याक्षेपरक्षणार्थमित्युक्तं, तत्र यत्तावदुक्तं आदौ तावदित्यादिनैष एव प्रथमतो महान्दोष इति। तत्रैव जडतासावयवत्वपरधीनत्वादीनामन्तर्भावात्तदेव तावन्निर्दलयितुम् अधिकरणसिद्धान्तनयेन तस्मिन् महादोषे विगतशक्तिके सति तदुपरिवर्तिनोऽन्ये स्वयमेवोपशाम्यन्तीत्याह––तदात्मनो हीत्यादि। तदिति सर्वनाम्ना प्रसिद्धताद्योतकेन विश्वात्मतायामप्रच्युतप्राच्यस्वरूपं ध्वनितम्। हिशब्दः परकृताक्षेपे समर्थनतां द्योतयति। अथ पक्षान्तरे। अयं भावः––यावत इति स्थूले सूक्ष्मे वा कारणे परिणामादियोगो यत्र संभवति तत्र कार्यतापत्तौ परिणामादावपि विकारिताऽवश्यं संभवत्येव क्षीरस्य स्थूलत्वाद्दधिरूपेण परिणामेऽपि विकारिता, मायाप्रकृत्यादेश्च सूक्ष्मस्य जडस्य त्रिगुणात्मकस्य कार्यतापत्तावपि तादृशमेव रूपं, तदेतत्सिद्धम्, यादृशं कारणं तादृशमेव कार्यं, कारणरूपतापत्तिरेव कार्ये न तु कार्येण कारणमनुगच्छतीति।
२ पक्षे सति।

स्यात्। सूक्ष्मत्वेऽपि[1] वा मायाप्रकृतिवत्। तत्तयोरिव[2] यावता न स्थूलो नापि सूक्ष्मः परमेश्वरश्चिदात्मा, अपि तु ततः परं, सर्वतोऽपि जडस्यैव हि स्थौल्यादिपरिणामयोगो न चिन्मयस्य, तस्य[3] तु परस्य यादृगात्मत्वमभीष्टं तथावस्थानमेवोत्पत्तिर्योगिनामिव[4] ॥ ३४ ॥

तदेवाह--

इच्छया[5] सर्वभावत्वमनेकात्मत्वमेव च।
नात्र स्वात्मविकारेण जनयेद्भावमण्डलम् ॥ ३५ ॥
तदिच्छासामनन्तर्ये तथाभूतात्मता यतः।

उभयोरप्यत्र[6] निर्देशः। यथा योगिनां सर्वभावत्वमिच्छयानेकात्मत्वं वा भवतीति इष्टं[7] तथा परमेश्वरस्यापि मन्तव्यम्। न ह्यसौ योगी स्वात्मनो मृत्पिण्डस्येव शिबिकस्तूपकादिरूपविकारपरिणामक्रमेण कुम्भकार इव घटमिव भावमण्डलं जनयति, अपि तु तस्य यादृशीच्छा तत्समनन्तरमेवेष्टकार्यात्माभिलाषात्मतया स्थितिः, तथा चिदात्मनोऽपि ॥ ३५ ॥

---

१ यथा सूक्ष्मा कारणभूता माया जडा तत्कार्यमपि तादृशमेव, यथा सूक्ष्मा त्रिगुणात्मिका प्रकृतिस्तत्कार्यमपि त्रिगुणात्मकमवयवविकारापन्नं चेत्यर्थः। २ तयोस्तत्कार्यविकारयोः। ३ ननु यदि तस्य न परिणामादियोगः तत्किमत्र तदनुगतता नाम येनोक्तं शिवात्मकमिदं सर्वमिति। तदेतदाशङ्क्याह तस्य त्विति। अयं भावः--न जडतादिकमत्र शिवत्वं तस्य तस्येच्छामात्ररूपत्वात्। शिवात्मकत्वं च तादृगवस्थानात्मकत्वादुत्पत्तेः। ४ न तु तदेव तथेति वक्तुं शक्यमित्यर्थः। ५ इच्छया च निर्माणं स्वप्नसंकल्पादौ दृष्टमेव, घटादेः प्रसिद्धकारणपरम्परापराकरणेन तदत्रासत्यं घटादीति चेत्, अस्तु तावदेतत्, तथापि योगी पुरसेनादिनिर्माणमिच्छावशादेव करोतीति सिद्धमेतत्। तत्र हि तदिच्छया झटिति संघटिताः परमाणव उपादानमित्युच्यमाने यदि प्रसिद्धो घटसंपादकः समस्तकर्मशिक्षाधर्माधर्मदण्डादिसहकारिसहितः स्वोपादानोचितः कपालादिकारणकलापोऽभ्युपेयते तत्कुलालविशेष एवायं योगीत्यायातं, तृणमात्रेणापि तु प्रसिद्ध्युल्लङ्घने स्वप्नसंकल्पकामशोकादिविषयपरिदृष्टभावाभासनिर्माणसामर्थ्यं संविद एवेति। ६ उभयोश्चिदात्मयोगिनोः। ७ स्वप्नसंकल्पादाविष्टं माभूत्।

पुनराह—

> यथा[1] न योगिनोऽस्तीह नानासैन्यशरीरकैः ।। ३६ ।।
> विभागस्तद्वदीशस्य मध्योत्कृष्टनिकृष्टकैः ।
> भावैर्नास्ति विभेदित्वमथवाम्बुधिवीचिवत्[2] ।। ३७ ।
> तत्र वीचित्वमापन्नं न जलं जलमुच्यते ।
> न च तत्राम्बुरूपस्य वीचिकाले विनाशिता ।। ३८ ।।
> निश्चलत्वेऽपि हि जलं वीचित्वे जलमेव तत् ।
> वीचिभिस्तद्विशिष्टं चेतन्नैश्चल्यविशेषकम् ।। ३९ ।।

यथा न योगिनो नानासैन्यशरीरकैर्गजरथतुरगपदातिरूपैरवस्थितस्यात्मविभागस्तथा परमेश्वरस्य मध्योत्कृष्टनिकृष्टकैर्देवमनुष्यतिर्यगादिरूपैरविभेदः सर्वशक्तिबोधमात्ररूपस्यैकत्वनियमात् । अथवात्यन्तप्रसिद्धोऽयं दृष्टान्तः । यथाम्बुधेस्तरङ्गाणां चैक्येऽपि व्यवहारभेदस्तथा शिवस्य विश्वस्य च । तत्र हि व्यवहारे वीचितां प्राप्तं जलं न जलमित्युच्यते, न च तत्र वीचिरूपे जलता विनष्टा । तथाहि निश्चलत्वे चलवीचित्वे च जलमेव जलविशेषत्वाद्वीचेः, अथ जलं तद्वीचित्वविशिष्टं न जलमात्रम्, तदेतदस्तु वीचिताविशिष्टत्वेऽपि न क्षतिर्जलस्य तादवस्थ्यात् । वीचिविशिष्टत्वे जलत्वाभावो निश्चलत्वविशिष्टेऽपि जलता न स्यात्, एवं भावरूपत्वेऽपि शिवता स्थितैव ।। ३९ ।।

> अत एव परेच्छातो न जडत्वमवस्थितम् ।
> पृथिव्यादितत्त्वगणे जडत्वं चेत्प्रतीयते ।। ४० ।।
> न[3] यथा जडता क्वापि तथाग्रे सुविचारितैः ।

---

१ ननु भवतु चेच्छया सर्वकार्यकारित्वं योगिन इव, तथा पुनः स्थित्यवस्थायां स्फुटमेव विलक्षणरूपत्वादेषां कात्र व्यवस्था तदेकरूपत्व इत्यत आह यथा नेत्यादि । २ ननु मास्तु योगिनः सैन्यशरीरकाणां भेद इत्यत्र यथा परमेश्वरस्यापि भेदव्यवहारश्च स्फुटमवभासमानस्तस्मात्तेषां चान्योन्यं कथमपह्नूयत इति कुतर्कमोहान्ध्यविलुप्तविज्ञानदृष्टीन्प्रति स्फुटताप्रतीत्यै पुनरन्यदृष्टान्तेन द्रढयति अथवेत्यादि । ३ नशब्दोऽत्र काकाक्षिगोलकन्यायेन योज्यः ।

वर्णयिष्याम एवात्र न च: सावयवः क्वचित् ॥ ४१ ॥
कश्चिदस्तीह वक्ष्याम एतदप्यग्रतः स्फुटम् ।

अत एव योगिन इव परमेश्वरस्येच्छावशादेव तथावस्थाने पृथिव्यादितत्त्वगणे जडता नास्ति इच्छाविशेषरूपत्वात्, न तु प्रधानादिजडोपादनतास्य । अथ तत्रेदन्तानिर्देश्यतारूपा जडता प्रतीयते । तन्न, यथा न क्वचिदिदन्तानिर्देश्यत्वेऽपि तत्त्वतो जडता तथोत्तरत्र सुष्ठु विचारणाभिर्वक्ष्यामः । सर्वात्मत्वे शिवतत्त्वस्य सावयवत्वप्रसङ्गदूषणमपि अग्रे निराकरिष्यामो यथा न कश्चित् कस्यामप्यवस्थायां सावयवः स्यात् । स्वयं शिवात्मतावस्थाने स्वयं विश्वात्मतयावस्थाने च किमपेक्षया भोग्यता यया सावयवत्वं स्यात् ॥

स्वेच्छातो भावरूपत्वे पराधीना कुतः स्थितिः ॥ ४२ ॥
क्षीरवद्यदि वोच्येत पराधीनं जडं भवेत् ।
एतयैव दिशा शोध्यं शुद्धन्यूनादिदूषणम् ॥ ४३ ॥
अभग्नेस्वस्य रूपत्वे शुद्धन्यूनादिकं कुतः ।
एतद्ग्रहादिके हेम्नि हेमत्वं मुकुटादिके ॥ ४४ ॥
स्थितमेव न हेम्नोऽस्य काचिदस्ति विभेदिता ।
चण्डालसद्मगो वह्निर्न वह्निर्यदि कथ्यते ॥ ४५ ॥
तदेवं स्यादथोच्येत वह्नेः संस्कारचोदना ।
शास्त्रेषु वर्णिता कस्मात्कार्यार्थं कार्यमेव तत् ॥ ४६ ॥
न स्वरूपविभागोऽत्र स्वरूपे तत्स्वरूपता ।
परापरादिभेदोऽत्र तथा तस्य व्यवस्थितेः ।
संज्ञाकरणमात्रं तद्व्यवहाराय कल्पितम् ॥ ४७ ॥

स्वेच्छावशाद्विश्वभावरूपस्य पराधीना न स्थितिरपि तु स्वेच्छायत्तैव । विश्वरूपता क्षीरायत्ता दधिरूपतेव कारणपरिणामसापेक्षा यदि कथ्येत पराधीनो विश्वात्मा तदा जडः स्यात् चिद्रूपस्यापेक्षानुपपत्तेः, यावता विश्वरूपत्वे चिद्रूपतैव । अनयैव चिद्रूपताहानिदिशा शुद्धाशुद्धत्वोपचयापचयवत्त्वादिदोषः परिहार्यः । स्वं रूपं यस्य स स्वरूपस्तस्य भावे

चिद्रूपत्वे तदवस्थे शुद्धन्यूनादिदोषाभावात्। मुकुटपतद्ग्रहयोः सुवर्णसाम्येन सुवर्णत्वम्। तथाहि चण्डालगृहस्थोऽग्निर्यदि नाग्निः स्यात् तदेतदपि स्यात्। अथ वह्नेर्यदि अशुद्धता न स्यात् तत्तस्य कुतो मन्त्रैः संस्कार-योगः कार्यसंपादनार्थं शास्त्रे चोच्यते तस्मात् तस्याशुद्धता संभवेत्। नैवं, कार्यमेवानुष्ठेयमेव तद्व्यवहाराय न तु स्वरूपे वह्नेर्विभागः, स्वरूपे निजरूपे स्थिते तु वह्नावुपगम्यमाने तत्स्वरूपता वह्निरूपतैव सर्वत्र, तद्वत् शिवरूपता जगतस्तस्य, तथा ईश्वरस्य तन्मात्रपृथिव्यादिरूपतया व्यवस्था-नात् परस्थूलसूक्ष्मतादिभेदः। तथा च सर्वत्रैक्ये संसारव्यवहाराय संज्ञामात्रं तत्कल्पितं भवति ॥ ४७ ॥

व्य[1]वहारोऽप्यविद्या[2] नो तथात्वेनेश्वरस्थितेः।
तेनैव वा तथा क्लृप्तस्तथा तदनुवर्तनम् ॥ ४८ ॥
न तत्स्वरूपभेदाय शास्त्रं यद्व्यवहारगम्।

संसारव्यवहारोऽप्यविद्या नाम न पदार्थान्तरं भवति, ईश्वरस्यैव तथात्वेन लोकयात्रात्मतया तथावस्थानात्। शास्त्रमपि[3] वा व्यवहार-गामिसंस्कारोपदेशकं न शिवतत्त्वभेदाय, तेनैवेश्वरेण[4] तथाग्निसंस्कारादिः

---

१ ननु चास्तु सर्वत्र तस्यैव व्यवस्थितत्वादैक्यम्, अस्तु च व्यव-हाराय संज्ञाकरणमात्रं, तथापि यदुपरोधात्संज्ञाकरणमात्रमायाति सोऽपि कश्चिद्यद्यपि आभासमानत्वात्तन्मयमेव तथापि नाममात्रभेदोऽस्त्येवेत्यत आह व्यवहार इत्यादि। २ यत्राविद्या नो इति पर्युदासाश्रयणेन न निषेधे तात्पर्यं किंतु स्वयं व्यवहारात्मकाविद्यालक्षणं न भवतीत्यर्थः, तदाह तथात्वेति। ३ ननु चास्तु संसारव्यवहारस्तदात्मकत्वादपृथग्भूतं व्यव-हारार्थं पृथग्भूतं कल्पितं विपर्यस्तैरिति च यद्यप्यस्ति तथापि तदर्थं शास्त्र-नियमेनालं, कुतश्च संसारव्यवहारं सत्यमिति गमयति इत्याशंक्याह शास्त्र-मिति। अयं भावः—यावद्धि व्यवहारः सत्यभूतस्तावत्तदर्थं शास्त्रमपि सत्यमेव तन्निरासे तस्यापि न नियम इत्यर्थः। ४ ननु च किमिदमुच्यते 'तथात्वेनेश्वरस्थितिः' इति। यदि च तथात्वमेव तर्हि न व्यवहार-व्यपदेशोऽपि, व्यवहारव्यपदेशे च न तथात्वव्यपदेश इति पक्षान्तरं समर्थयति तेनैवेश्वरेणेति। इदं हि स्वातन्त्र्यवादमाश्रित्य समर्थितं, स्वातन्त्र्याद्यथा संस्कारादि कल्पितं न परमार्थसत्, तथा तदनुवर्तनमपीति पूर्वस्मात्पक्षा-दाधिक्यमत्र सूक्ष्मधियामेवागन्तव्यम् ॥

कल्पितः, तथा च तस्यानुवर्तनं कल्पितम्। ततस्तदिच्छात्मकमेतद्रूपमेव[1] नाशुद्धिं भेदं वा शिवतत्त्वस्योपस्थापयति॥

हेमपिण्डे[2] हेमतैव स्याच्चेन्न मुकुटादिके॥ ४९॥
युज्यते वक्तुमेतत्तदनित्यत्वं[3] च यत्स्मृतम्।
सत्कृतौ तद्विनिर्णेयं या चोल्लङ्घनचोदना॥ ५०॥
नियमानुप्रवेशाय शिवे चोल्लङ्घनेन किम्।

भेदश्च जगद्रूपत्वे युज्येत वक्तुं, यदि हेमपिण्ड[4] एव हेमता स्यात् न तु मुकुटादौ[5]। एवकारो हेमपिण्डस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। यच्च भावानां नाशित्वात्तदात्मनः शिवतत्त्वस्य नाशित्वं चोद्यत्वेन स्मृतं तत्सत्कार्य[6]-वादसमर्थनात् निर्णेष्यते। यच्च पादलङ्घननिष्ठीवनादि सर्वत्रात्मनि शिवे परिहार्यत्वेन चोदितं तत्तदात्मकनियतिशक्तिकृतनियमरूपधर्माधर्मानु-प्रवेशफलसंसारव्यवहारसंपादनाय। वस्तुतश्च शिवतत्त्वे[7] तेनोल्लङ्घनेन किं दुष्यति न किंचिदित्यर्थः॥

---

१ तदिच्छात्मकमेतद्रूपमेवेति पक्षद्वयप्रधानमभेदमेकमेव वस्त्विति मन्तव्यम्। २ ननु चास्तु यत्राहंपरामर्शो 'गोः स्तनापाततः क्षीर' इत्यादिनीत्याऽनवच्छिन्न एव तत्राभेदे शिवाद्वयत्वं, यत्र तु स्फुट-मिदन्तानिर्देशे सावयवत्वादिविकारवत्त्वं तत्र कथमित्याशङ्काशान्त्यर्थ-माह हेमपिण्ड इत्यादि। ३ ननु च यदि सर्वं भावमन्डलं तदात्मक-मेव यच्छिवतत्त्वस्यानित्यकार्यापेक्षया नित्यत्वं तत्कथं तथा तन्ममत्वे तस्याप्यनित्यतेत्यत आह तदनित्यत्वमिति। ४ अवयवविकारमप्राप्ते। ५ अवयवविकारमापन्ने। ६ अयं भावः—यदि कार्यमुत्पत्त्यनन्तरमेव सत्स्यात् पूर्वं चासत्स्यात् तर्हि चासत्कार्यत्वात्तस्यासत्त्वे शिवतत्त्वस्य विनाशित्वं प्रसज्येत, पूर्वं च तत्सदेवेति कस्य विनाशित्वं, तदेतदीश्वर-प्रत्यभिज्ञायामुक्तम्—

'चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्॥'

इति। ७ शिवतत्त्वे हि धर्माधर्मयोरभाव एव, तच्च लङ्घनादिकमधर्माय ततो न कर्तव्यं, धर्मोत्पत्तिर्हि तथा स्यात्। धर्माधर्मसंसारव्यवहाराभावे यथाऽलङ्घनेन न धर्मेण तस्योपयोगस्तथा लङ्घनेनाधर्मेणापि।

एवं[1] प्रवर्तने तस्य न निमित्तसमुद्गमः ॥ ५१ ॥
यदि स्वरूपविभ्रंशाच्छाक्तरूपादिकल्पना ।
तद्वक्तव्यं निमित्तत्वं किमर्थं रूपमुज्झति ॥ ५२ ॥
यावता सर्वरूपाणां तत्स्वरूपस्वरूपिता ।

जननपरिणामादिरूपतां विनैवैवमवस्थानमात्रलक्षणजगत्स्थितिप्रवर्तने तस्य न निमित्तं[2] चोद्यमपूर्वकार्याभावात् । यदि हि शान्तरूपस्य शाक्तादिरूपान्तरग्रहणं शिवतत्त्वत्यागे स्यात् तत्कस्यचिदर्थस्यात्र निमित्तं वक्तव्यं प्रष्टव्यं किमर्थमयं रूपमुज्झतीति । यावता शान्तिरूपतायां शिवे जगद्रूपतयापि च शिवस्वरूपेणैव स्वरूपवत्त्वम् ॥

शक्तित्रयस्वरूप[3] त्वं सर्वं यस्यास्त्यवस्थितम् ॥ ५३ ॥
निमित्तं[4] कल्प्यते तत्र निमित्तं तत्र कल्प्यताम् ।
अतथात्वे तथाभावो यत्र स्यादथ चोद्यते ॥ ५४ ॥
पुरा शान्तस्वरूपत्वं पश्चात्तादृगवस्थितिः ।
शान्ते[5] शिवत्वं स्थूलेऽपि शिवत्वं यत्र वर्णितम् ॥ ५५ ॥
तत्र का शान्तता ब्रूहि शान्ते किं वस्तुता न ते ।
वस्तुता चेत्तथाभूतशक्तित्रितयसंगमः ॥ ५६ ॥

इच्छादिशक्तित्रयमयचिदात्मकत्वं सर्वस्यामवस्थितौ[6] यस्यावस्थितमस्ति तत्र निमित्तं कल्प्येत, काक्वा योज्यते किं कल्प्येत नैव कल्पनीयमित्यर्थः । तत्र हि कल्प्यतां निमित्तं यत्रातद्रूपत्वे तद्रूपतोद्भवः ।

---

१ 'तथैवं संप्रवृत्तौ तु निमित्तकलनापतेत् ।'
इति, तत्समर्थयति एवमिति । अयं भावः—प्रवृत्तिकारी हि तदा प्रवृत्तिं करोति यदि स्वस्मात्किंचिदाधिक्यादिकमनुभवति, यदि च स्वयमेव स तथाभूतः केन निमित्तेन प्रवृत्तिं करोतीति । २ स्थितिप्रवर्तनेऽपि यतस्तस्यैवमवस्थानमेव न जननपरिणामादिविकारस्ततो न निमित्तकलना कापि, यदि ह्याधिक्यं स्यात्तर्हि निमित्तकलनापि स्यात् । ३ इच्छादिसामरस्यात्मकं । ४ भ्रूक्षेपपूर्वभाषणेन योज्यम् । ५ अजगद्रूपे, शिवत्वं पञ्चशक्तिसामरस्यात्मकमभेदतत्त्वम् । स्थूले—जगद्रूपे । ६ जगद्रूपस्पन्दक्षोभेऽपि ।

अथैवं चोद्यते-पूर्वं शान्तरूपत्वमजगद्रूपत्वं पश्चाज्जगद्रूपतेत्यपूर्वताया निमित्तं वाच्यमिति। तन्न, यत्राभ्युपगमे, शान्तेऽपि शिवत्वं स्थूलेऽपि जगद्रूपत्वे शिवत्वमेव वर्णितं तत्र शान्तता शिवरूपता का स्यात्, ब्रूह्येतत्। शान्तमपि हि तव वस्तु, वस्तु च सत्तामयं, सत्ता भवत्ता भवनकर्तृता, स्वातन्त्र्यात्मकं च कर्तृत्वं चिद्रूपस्येच्छादिशक्तिमत इति सर्वं वस्तु शिवः॥ ५६॥

अङ्गाररूपे[1] किं वह्नौ वह्निता न क्रियात्मके।
ज्वालादिकेऽथ सावस्था[2] निष्क्रियाज्ञानरूपिणी॥ ५७॥

निरिच्छा न च शक्येत वक्तुमेवं कदाचन।
अस्ति स्थितोऽसावेतस्यामवस्थायां शिवो यदि॥ ५८॥

नैषा क्रिया भवति किं निरिच्छे किं क्रिया भवेत्।
निर्ज्ञाने वा ततो ज्ञेयं नाशक्तिः काचन स्थितिः॥ ५९॥

अङ्गाररूप एव वह्नौ किं वह्निता न तु ज्वलनसंतपनादिक्रियाविष्टे। अथ तत्र[3] वह्निरेवं शिवोऽपि तद्भावभेदाविष्टोऽपि शिव एव। क्रियावस्थामुखेनैतत्कथितम्। अथ सक्रिये शक्तिसंभवात् शिवतास्तु शान्तता[4] तु निष्क्रिया ज्ञेयज्ञानरहिता कार्याकरणात् चिकीर्षालक्षणेच्छाशून्या च तेन न शिवः, नैवं शक्यते वक्तुं कदाचन सर्वदा भवनक्रियाविरहात्। स्थूलक्रियाविरहे शान्तावस्थायामपि यदि शिवः स्थितोऽभ्युपगम्यते तदस्ति स्थित इत्येषा भावस्थानादिरूपा क्रिया किं न भवति, भवत्येव। क्रिया च कर्तृस्वरूपभूता, कर्ता च स्वतन्त्रः चेतन एव, स्वेच्छातः प्रवृत्तिः स्वातन्त्र्यं यतः, यतोऽस्ति स्थित इत्यत्र बुभूषातिष्ठासालक्षणेच्छा-

---

१ यथा ज्वलनसंतापादिवत्त्वमेव वह्नित्वं तदभावे न वह्नित्वमिति स्थितं तथा भावशक्तिमत्त्वमेव शिवत्वं न तदभाववत्त्वमित्यर्थः। २ अन्ये शक्तिमत्त्वे सक्रियत्वे शिवत्वं यतोऽस्ति ततश्च ततोऽन्या सूक्ष्माऽविकल्पा दशावश्यं गवेषणीया, अन्यथा हि ज्ञानज्ञेयसहितत्वाद्विकल्प्यमेव परतत्त्वमपि स्यात् इत्यतस्तत्र शिवत्वमपि नानुमन्तव्यम्। मतं चेद्विकल्पमध्य एव पतेदित्याह सावस्थेति। ३ तत्र ज्वलनक्रियाविशिष्टे। ४ यदुक्तं 'शान्तेऽपि शिवत्वं स्थूलेऽपि शिवत्वं तेन नात्र निमित्तकलना' इति। शान्तत्वे शिवत्वमुत्पुंसयितुमाह निमित्ततापादानार्थं शान्तता त्विति।

स्त्येव। यावच्च तथा कर्तुं भवितुं स्थातुं वा न जानाति तावत् किं क्रिया भवति। भवतीत्यादि तिङन्तनिर्देशः। तस्मात् ज्ञातव्यं यदुत नेच्छादिशक्तिरहिता काचन स्थितिः कस्यचित्। इच्छादिशक्तिमत्ता च शिवता, घटोऽस्ति हिमालयोऽस्ति, जगदस्तीति च यथा नाधिक्यं शिवतायाः करोस्ति तथेश्वरप्रत्यभिज्ञायां विचारितम्॥ ५९॥

अथ चित्रत्वमत्रास्ति भावपुञ्जे न तच्छिवे।
शिवस्य तत्स्वरूपत्वं वैचित्र्यं यत्परस्परम्॥ ६०॥
अपेक्ष्य भाववैचित्र्यं तस्य तेभ्यो विचित्रता।
सर्वं शिवात्मकं यद्वत्कथनीयमिहाग्रतः॥ ६१॥

अथात्र भावानां परस्परतो वैचित्र्यं दृश्यते तच्छिवे चिदेकरूपे कथं संभवेत्। तत्रापि शिवस्यैव तद्विचित्रस्वरूपत्वं भावानां यदन्योन्यवैचित्र्यं, तेषां च घटपटादीनां वैचित्र्यमपेक्ष्य तस्य तेभ्यस्तद्वशात् विचित्रता भाति चिदेकरूपस्यापि सतः। सर्वं च चित्स्वरूपत्वेन शिवात्मकं यथा न्यायानुसारेण तथाग्रतो वक्ष्यते॥ ६१॥

जलाहरणशक्तश्च घटो यदि न भण्यते।
घटः केवल एवात्र तदेवंविधमुच्यताम्॥ ६२॥

यदि चात्र जगत्युदकाहरणशक्तो घटो नोच्यते अपि तु केवलस्तत्क्रियावेशशून्य एव घटः, तदेतत्सदृशमेवं केवल एव शिवो न जगद्रूप इत्येतदप्युच्यतां, यावता नैवं[1] तत्सर्वदापि शिव एव॥ ६२॥

नानावादैर्नो विरोधः कथनीयमिहाग्रतः।
उक्तं[2] वा कालपादादावागोपालाङ्गनादिना॥ ६३॥

---

१ उदकाहरणशक्त एव। २ आदौ स्वशास्त्रतं आह उक्तं वेति। ननु कथं नानावादैरविरोधः सर्वत्र भिन्नभिन्नार्थकल्पनात् ततश्चाह उक्तं वेति। अयं भावः—आप्तप्रणीतत्वं ह्यागमत्वं, तच्चादौ तन्त्रागमानां साक्षाद्भगवच्छिवभट्टारकोक्तत्वात्, श्रुतीनामप्यनादित्वकथनादस्त्येव, इतिहासपुराणादिषु तदर्थावधारणादस्त्येव प्रमाणत्वं, तस्मादेकस्यैवाशेषजगत्प्रसूतिहेतोर्महाविभूतेरीश्वरस्य सृष्टिस्थितिप्रलयकार्यविभागयोगाद्ब्रह्मेति विष्णुरिति रुद्र इति व्यपदेशः, अन्येषां पुनरनाप्तप्रणीतत्वान्न प्रामाण्यम्। तदेतत्त्रिधैवागमप्रामाण्यं संवादयति उक्तं वेत्यादिना।

तदैक्यं[1] खेटपालोऽपि प्राह या काचन स्थिता ।
शक्तिः पदार्थजातस्य देवदेवस्य साखिला ।। ६४ ।।
शक्तिशक्तिमतोरुक्ता सर्वत्रैव ह्यभेदिता ।
एको[3] रुद्र इतीत्यादि श्रुतावुक्तं तथा परः ।। ६५ ।।
पुरुषः सर्वमेवेदमितिहासादिषूदितम्[4] ।
महेशस्याष्टमूर्तित्वं यावत्पार्थिवमूढता ।। ६६ ।।
साऽरोदीदिति[5] वेदेऽस्ति नार्थवादो निरर्थकः ।
विध्यङ्गत्वेन चेत्सत्या नासत्यस्याङ्गता स्थिता ।। ६७ ।।
अर्थवादादपि फलं रात्रिक्रतुषु दर्शितम् ।

नानादर्शनैश्चास्मिन् शैवाद्वैते नो विरोध इत्यग्रे कथनीयम् । स्वसिद्धान्त एव वा श्रीकालोत्तरादावुक्तमेतत्--

'आगोपालाङ्गनाबाला[6] नित्यमेव ब्रुवन्ति तम् ।'

इत्यादिना मन्त्रात्मशिवरूपत्वं जन्तूनाम् । गुरवोऽपि शिवैक्यमुपदिशन्ति । तथा च खेटपालगुरुः प्राह 'या काचन' इत्यादि । यतश्च देवदेवशक्तिरेव पदार्थशक्तिरुक्ता, शक्तिशक्तिमतोश्च न भेदस्ततो देवदेव एव पदार्थ

---

१ गुरुत आह तदैक्यमित्यादिना । २ सर्वेषामत्राविरोधमाह । ३ श्रुतिप्रमाणमाह । ४ अविगीतशिष्टप्रामाण्यमाह । ५ विधिरूपस्य वाक्यस्य साक्षादनुष्ठेयेपरत्वादस्तु प्रामाण्यमर्थवादरूपस्य पुनः साक्षात्तत्रासंबन्धान्न तत्र प्रामाण्यमिति केषांचिद्विधिपरत्वात्केषांचिदर्थवादपरत्वान्न परस्परं तयोः संबन्ध इति कथं सर्वत्रैक्यवाद इत्याशङ्क्याह सोरोदीदिति ।

६ 'उतैनं गोपा अदृशन्नुतैनमुदहार्यः ।'

इति श्रुतिश्च । महार्थमञ्जर्यां च--

'यं जानन्ति जडा अपि जलहार्योऽपि यं विजानन्ति ।
यस्यैव नमस्कारः स कस्य स्फुटो न भवति कुलनाथः ।।'

इति ।

इत्युक्तं भवति। यदिदं "इदं स एको[1] रुद्रः" इति च रुद्रैक्यम्। तथा 'परः पुरुष[2] एवेदं सर्वं' इति चोक्तं वेदे। पुराणेतिहासादिषु[3] चाष्टमूर्तित्वमुक्तं महेश्वरस्य यत्रात्यन्ततामसपार्थिवतत्त्वरूपेण मूढतापि स्वरूपमेव ॥

"सोऽरोदीत्[4]" इति च रुद्रशक्तिनिर्वचनेऽपि वेदेनोक्तं तदैक्यम्। अर्थवादोऽयमसत्यार्थो[5] विध्यनुष्ठानतात्पर्यादित्येतदपि न युक्तम्। अर्थ[6]-

---

१ 'एको रुद्रोऽवतस्थे न वै द्वितीयो कश्चन।'

इति। तथा—

'यो रुद्रो अग्नौ यो अप्सु य ओषधीषु यो वनस्पतिषु।
यो रुद्रो विश्वा भुवना विवेश तस्मै रुद्राय नमो अस्तु देवाः ॥'

२ 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।'

इति।

३ यथा सिद्धस्तुतौ—

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेव त्वयि परिणतां बिभ्रतु गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥'

इति। अत्रापि भगवतो महेश्वरस्यैकात्म्यमेव सर्वत्र दर्शितम्। तथाहि पञ्चभूतान्येव सर्वं विकारावस्थापन्नं जगदिति स्थितम्। तत्र यत्सूक्ष्मं प्रमाणप्रमेयात्मकमवस्थायुगलं तदर्कसोमशब्दाभ्यामुक्तं, यतोऽत्रैवाहन्तेदन्तायुगलकमपि सदाशिवादिव्यपदेशेन विश्राम्यति किं पुनरन्यत्र कथनीयं यत्र संहतं पार्थिवं घनं तत्त्वमपि शिव एव अत एव तस्यान्तेऽत्र व्यपदेशः। अभेदमेवैषामाहात्मेति, एषां सर्वेषां स्पन्दविशेषाणां यदभेदात्मकं प्रत्यग्रूपं तदेव भवानस्तीति किमन्यद्यत्र भवत्स्वरूपापह्नवः। ४ 'सोऽरोदीद्यदस्य रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इति। अयमर्थः—यत्स रुद्रोऽरोदीत् सुस्राव शक्तिद्वारेण विश्वरूपतयास्थात् तदस्य रुद्रस्य रुद्रत्वं रुद्राभेदमयत्वम्। ५ अप्रवृत्तप्रवर्तनं विधिः, तथा साक्षादुपदेशकत्वं विधिः। प्रवृत्तस्यान्वाख्यानमर्थवादः, तथा परम्परोपदेशकत्वमर्थवादः। अत्रार्थवादे साक्षादुपदेशाभावमाशङ्क्यार्थवादोऽयमिति। विध्यनुष्ठितस्यैव ह्यर्थस्यार्थवादः समर्थकस्ततश्च साक्षादनुष्ठानाभावान्नार्थवादस्य सत्यत्वम्। ६ यद्यर्थवादस्य विध्यङ्गता सत्या तर्हि कथं स्वयमसत्यार्थपरत्वमित्यर्थः। यथाहि 'वायव्यं श्वेतमज-

वादस्य या विध्यङ्गता सत्या सा कथमसत्यार्थस्य स्यात् । स्वार्थमभिदधान एव हि अर्थवादो भवति, न च वेदेऽपि मिथ्यार्थता, रात्रिक्रतुषु[1] चार्थवाद-प्रामाण्येनैवानुष्ठेयत्वात् फलं प्रदर्शितं जैमिनीयैः ॥ ६७ ॥

बन्धमोक्षौ न विद्येते सर्वत्रैव शिवत्वतः ॥ ६८ ॥

विज्ञानमीदृक्सर्वस्य[2] कस्मान्न स्याद्विमोहिता ।

सैवैषा सा च संसारो बन्धमोक्षावतः स्थितौ ॥ ६९ ॥

मालभेत भूतिकामः' इति विधिः । 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयतीत्यर्थवादः । तत्र विधिवाक्यगता वायव्यादिशब्दा अर्थवादशब्दनैरपेक्ष्येणैव विशिष्टमर्थं विदधति, अर्थवाद-शब्दाश्चेतरनैरपेक्ष्येणैव भूतार्थमन्वाचक्षते, क्षिप्रगामी वायुः स्वोचितेन भागेन तोषितो भागं प्रदायैश्वर्यं प्रयच्छतीत्युक्ते रामायणभारतादाविव कश्चित्प्रतीयते न त्वनुष्ठेयं किंचित्, अत एकवाक्यत्वाभावान्नास्त्यर्थ-वादस्य प्रामाण्यमिति विधिप्रामाण्यवादिन आहुः ।

अत्राहुर्जैमिनीयाः, माभूद्विध्यर्थवादयोः पदैकवाक्यता, वाक्यैक-वाक्यता तु भवत्येव । विधिवाक्यं तावत्पुरुषं प्रेरयितुं विधेयार्थस्य प्राश-स्त्यमपेक्षते, अर्थवाक्यं च फलवदर्थावबोधपर्यवसिताध्ययनविधिपरि-गृहीतत्वेन पुरुषार्थमपेक्षते, ततः पुरुषार्थपर्यवसितविध्यपेक्षितप्राशस्त्यं लक्षणावृत्त्या समर्पयदर्थवादवाक्यं विधिवाक्येन सहैकवाक्यतामापद्यते, यतः क्षिप्रगामिस्वभावतया शीघ्रफलप्रदो वायुरस्य पशोर्देवता, ततः प्रशस्तमिमं वायव्यं पशुमालभेतेति वाक्ययोरन्वयः, तस्मादर्थवादः प्रमाणमिति । १ रात्रिक्रतुष्विति, तत्र ह्यर्थवादेनैवार्थः पूर्यते इति न प्रतीत्यङ्गत्वमेवार्थवादस्य कार्याङ्गत्वमपि । यथा 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा एता रात्रीरासत' इत्यश्रूयमाणाधिकारस्य रात्रिमात्रविधेरधिकारांशोऽ-र्थवादादेव लभ्यते । तत्र हि 'प्रतिष्ठाकामाः सत्रमासीरन्', इत्यर्थवाद-वशाद्वाक्यार्थः । क्वचिद्विधिवाक्यस्यार्थसन्देहेऽर्थवादात्मकाद्वाक्यशेषात्त-न्निश्चयो भवति । यथाक्ताः शर्करा उपदधातीत्यञ्जनद्रव्ये घृततैलवसादि-भेदेन संदिह्यमाने 'तेजो वै घृतम्' इत्यर्थवादाद्घृतेनाक्ताः शर्करा उपाधेया इति गम्यते । २ यदुक्तं—

'सर्वभावशिवत्वेन नास्तिता बन्धमोक्षयोः ।'

इति दूषणं तदपि दूषयति विज्ञानमित्यादि । अयंभावः—सर्वभावशिवत्वे

सर्वस्य शिवत्वे बन्धमोक्षाभावात् शिवोऽहमिति सर्वस्यैव किमिति ज्ञानं न भवतीति । अत्राप्युच्यते–यथा सैवैषा विमोहिता, एवं––

'अज्ञानलक्षणा सा च संसारो बन्ध उच्यते'

इति स्थितावज्ञानरूपौ बन्धमोक्षौ ।। ६९ ।।

विभिन्नशिवपक्षे[1] तु सत्ये दार्ढ्यं[2] परत्र नो ।

प्रतीतिमात्रमेवात्र तावता बन्धमोक्षता ।। ७० ।।

यदा तु सर्व एव भावाः कर्तृत्वादिच्छादिशक्तियोगात् प्रत्येकं शिवरूपा इति पक्षः, तदा तत्र विभिन्नशिवपक्षे सत्ये यथा स्थितस्यार्थभेदस्य दार्ढ्यम् । यदा त्वेकशिवत्वमेव तत्त्वं तदा तस्मिन् पक्षे न दार्ढ्यं भेदस्य, अपि तु शिवाभेदप्रतीतिमात्रं मोक्षस्तदप्रतीतिस्तु[3] बन्ध इति तावता प्रतीतिमात्रेण, न तु वस्त्वन्यथात्वे बन्धमोक्षयोर्बन्धमोक्षता ।। ७० ।।

बन्धमोक्षयोरभेद इति पक्षे समर्थयति ईदृग्विज्ञानं सर्वस्य कस्मात् न भवतीति, शिवोऽहमिति सर्वस्यैव प्रतीतावस्त्वेव बन्धमोक्षाभाव इति पृष्टे सिद्धान्तवादी एनमेव पक्षं तदुक्तिदोषोद्भावनपूर्वमर्धोक्त्यैवोत्तरपक्षेण समर्थयति––यथा 'विज्ञानमेतत्सर्वस्य कस्मान्न स्याद्विमोहिता ।' अयं भावः––यत्सर्वस्य शिवोहमिति भेदज्ञानं सैव विमोहिताज्ञानलक्षणो भ्रमः, तथा च बन्धनिरासार्थं मोक्ष एव ।।

१ ननु किमिदं भवद्भिरपूर्वदोषारोपणं क्रियते––

'विज्ञानमीदृक्सर्वस्य कस्मान्न स्याद्विमोहिता ।'

इति । सर्वस्याहमित्यखण्डपरिपूर्णाहन्तापरामर्शे विमोहिता क्वान्यत्राविमोहित्वं स्यादित्यस्यैव तात्पर्यं तावद्विवेचयति विभिन्नेति। इदमत्र तात्पर्यं–यदि सर्वस्येत्यत्र भिन्नापेक्षया सर्वनामनिर्देशस्तर्हि भेदेनानेकत्वेऽर्थभेदोऽस्त्येव तदपेक्षया मोक्षः इति बन्धमोक्षव्यवस्था स्थितैव । अथ सर्वशब्दो न भिन्नप्रमात्रपेक्षया किंतु सर्वस्यैकमेव विज्ञानात्मकमभेदसारमहमिति विमर्शनं तच्छिवाभेदप्रत्यवमर्शस्य मोक्षप्रतीत्या बन्धस्याप्यनुषङ्गोऽस्त्येवेति सिद्धं समीहितमस्माकं, परमार्थतो वस्तुवृत्त्या न किंचनापि बन्धमोक्षव्यपदेशः प्रतीतिमात्रेणास्तीति ।। २ परमार्थभेदेऽर्थभेदस्यैव दार्ढ्यं भेददार्ढ्यं । परत्र एकत्वपक्षे । ३ तदयमर्थः––प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां मोक्षबन्धव्यवस्थाया व्यवस्थितत्वाद्यदुक्तं नास्तितता 'बन्धमोक्षयोः' इति, तदसिद्धं ।

नासत्ये[1] सत्यबुद्धित्वखण्डनात्रास्ति काचन ।
कथनं सर्वसाम्याय विवादिहननाय च ।। ७१ ।।

न चाप्यत्र भेदेष्वसत्येषु सत्यबुद्धया भ्रान्तिरूपा खण्डनास्ति वेदोक्तवत्[2], यतो भावानां सर्वेषामेव शिवरूपत्वे स्थिते बहुत्वमेकत्वं[3] वा । यत्पुनः[4] शिवतत्त्वेनैक्यस्य कथनं तत्सर्वेषां शिवतत्त्वेन साम्यायोत्कर्षापकर्षनिवारणाय, यदि वा ये शिवत्वं भावानां न प्रतिजानते तद्विवादिपराजयाय ।। ७१ ।।

तथा[5] तथा शिवावस्था स्वेच्छातः स तदात्मकः ।
तदात्मत्वे नास्ति बन्धस्तदभावान्न[6] मोक्षणम् ।। ७२ ।।

भेदेऽपि तथा भेदरूपेण शिवस्यावस्थानं स्वेच्छावशात्, स च भेदः शिवात्मकः । एवं[7] च भेदस्य शिवात्मकत्वे नास्ति बन्धस्तदभावात् तदपेक्षो न मोक्षोऽपि ।। ७२ ।।

न च बन्धमोक्ष०व्यवस्थानाच्छिवाद्वयतात्पर्यं खण्ड्यते प्रतीतिमात्ररूपत्वाद्बन्धमोक्षयोर्न वस्त्वन्यत्वसंभवः । १ अस्तु प्रतीतिमात्ररूपत्वमेव बन्धमोक्षयोरस्तु च वस्तुतः शिवाद्वयमयत्वमेव तथापि यदि प्रतीतिमात्रसत्त्वं तदेव तर्हि प्रमाणीकर्तव्यं, यदि च शिवाद्वयमयत्वमेव तर्हि तदेव कोऽयं नयः वस्तुद्वयत्वकथने इत्याशङ्कां निवर्तयितुमाह नासत्य इति । २ वेदप्रक्रियायां हि संकोचतारतम्यकथनात् 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादिवाक्यैरसत्येषु भेदेषु सत्यबुद्धिर्भ्रान्तिरेवोक्ता । अयं भावः——अस्मन्मते सर्वथा शिवैकरूपत्वं प्रतिपादनीयं तच्च भावानामेकत्वमस्तु अनेकत्वं वास्तु न केनापि खण्ड्यत इति । ३ यद्यपि वस्तुतः शिवरूपत्वे सर्वेषां बहुत्वमेकत्वं वा न विरोधावहमिति तथात्वकथने न कोऽपि दोषः । तथाप्यद्वयवादोक्तिः, शिवतत्त्वे न कस्यचिदुत्कर्षः नापि कस्यचिदपकर्ष इति कथनार्थम् । तथा बहुत्वैकत्वकथने पदार्थस्वरूपमेव तथा तथा स्यादिति पदार्थवाद एवाभ्युपगतो भवेदित्यर्थः । ४ ननु यदि बहुत्वैकत्वकथनं तुल्यमेव तर्हि कृतमद्वयवादेनेत्याह । ५ तदेवं वाद्युन्मथनपूर्वं बन्धमोक्षव्यवस्था दृढीकृता, शिवाभेदतात्पर्यं च तेनैव सिद्धान्तितम् । अथेदानीं परमार्थतो व्यवहारेऽपि शिवाभेदं समर्थयति तथा तथेत्यादिना । ६ बन्धपूर्वत्वान्मोक्षस्य । ७ अत्रापि च स्फुटं बन्धमोक्षनिषेधेऽपि बन्धमोक्षव्यवस्था व्यवस्थितैवेति बोध्यं तथा तथेति कथनात्, स्फुटीभविष्यति चैतत् ।

किमर्थं गुरुशास्त्रादि चेत्तथा[1] तदवस्थितेः[2] ।

देवस्य[3] शास्त्राद्बोधेन किं प्रयोजनमेव च ॥ ७२ ॥

किमर्थं[4] भवतारब्धं शास्त्रं बोधाय कस्य वा ।

तथा भेदरूपतया शिवस्यैवावस्थितेर्हेतोर्मोक्षाभावात् किमर्थं गुरुशास्त्रानुष्ठानादिकम्[5]। नहि देवस्य नित्यप्रबुद्धस्य शास्त्रेणोद्बोधनं सप्रयोजनम्। आसतामन्यानि शास्त्राणि, त्वमेव शिवैक्यवादी वा किमर्थं शास्त्रमारब्धवान् कस्य बोधाय ॥ ७३ ॥

स एवेत्थं स्वेच्छयास्ते तत्कर्तृत्वेन बोध्यतः ॥ ७४ ॥

स एव बुद्धरूपत्वे तथा भवति तत्क्षणम् ।

स एव संप्रजायेत तदनुष्ठानतत्परः ॥ ७५ ॥

फलं वा तदनुष्ठाने स एव हि तदा भवेत् ।

देव एवानेन प्रकारेण स्वेच्छया निष्प्रयोजनमास्ते। तदेव दर्शयति—तदस्मदादिशास्त्रकर्तृत्वेन तथा बोध्यतो बोध्यं शिष्यरूपमासाद्यास्ते। तथा तस्मिन्नेव काले प्रबुद्धरूपत्वे वा स्थितो भवति। तथा शास्त्रानुष्ठानपरः संपद्यते। तथार्थकामादिफलरूपत्वेनापि स एव स्वकाले भवति ॥ ७५ ॥

वादित्वप्रतिवादित्वे कस्माच्चेत्तस्य तत्स्थितेः ॥ ७६ ॥

व्यवहाराय वा सर्वं व्यवहारो न वस्तुगः ।

स्वरूपं वस्तुगं विद्धि व्यवहारो न जातुचित् ॥ ७७ ॥

तदीश्वरो व्यवस्थानादवस्त्वाभासरूपतः ।

---

३ तथेति भेदरूपतयापि तस्य शिवभट्टारकस्य। ४ दीव्यति क्रीडतीति देवः, हर्षानुसारी स्पन्दः क्रीडा। तथा सदा द्योतमानोऽपि देवः। ५ अपूर्वबोधनार्थं हि शास्त्रप्रवृत्तिः, तथा च सप्रयोजनता। ६ अन्येषां हि द्वैतकथनाज्ज्ञानार्थमस्तु तत्र प्रवृत्तिः, भवतां तु तदभावान्न युक्तेत्याह किमर्थमिति। ७ न च भवतां तत्प्रकटीकरणार्थमपि तत्र प्रवृत्तिः, तथा च स्वतन्त्रस्य देवस्य स्वातन्त्र्यस्य हानिः स्यात्।

तदैक्ये दर्शनभेदाभावात् वादित्वं प्रतिवादित्वं च कुतः, यदुक्तं 'विवादिहननाय' इति, तदेतदपि तस्यैव तथा स्थितेः। लोकव्यवहाराय वा सर्वं शास्त्रवादिप्रतिवाद्यादि। लोकव्यवहारश्च तदभेदाख्यातिमयो न वस्तुगतः। यत्पुनः स्वरूपेण प्रकाशते तच्छिवरूपवस्त्वात्मकमेव, व्यवहारस्तु न कदाचित् वास्तवोऽपि तु भ्रम एव, अवस्त्वपि ईश्वरात्मैवावस्त्वाभासरूपेण तस्यावस्थानात्। अत एव ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तनीत्या तदवस्त्वपि प्रकाशमानं चिद्रूपमेव, केवलं बाह्ये[1] प्रकाशनाभावादवस्तु उच्यते ॥ ७७ ॥

तदाह—

सर्वमेकेन रूपेण यद्विचार्यं तथाग्रतः ॥ ७८ ॥

सर्वं वस्तु अवस्तु च शिवरूपं यतस्तथाग्रे विचारणीयमेव ॥ ७८ ॥

धर्माधर्मैश्च[2] संबन्धस्तथा तच्छिवसंस्थितेः।

तत्फलाफलयोगेन युक्तता तस्य तत्स्थितेः[3] ॥ ७९ ॥

तयोः फलेन न्यूनतया[4] वा विपरीतेन फलेनाफलेन योगः। अथवा फलेनायोगोऽथवापि अधर्मस्याफलेनानिष्टेन फलेन योगः, तेन हेतुना युक्तता न्याय्या शिवस्य तथा स्थितेर्हेतोः, सर्वथा यद्यत्प्रतिभासते तच्चिद्रूपशिवात्मकमेव ॥ ७९ ॥

निमित्तसमवाय्यादिवैचित्र्यात्तद्विचित्रता।

कारणस्यैकरूपत्वे न दोषस्त्रितयात्मता ॥ ८० ॥

न राजाज्ञा समादिष्टा स्वयं वा स निमित्तकम्।

समवायि तदिच्छैव तद्योगः सहकारणम् ॥ ८१ ॥

तस्यैव वा त्रिरूपत्वं व्यपदेशात्तथाविधम्।

---

१ बाह्य इत्यनेन बाह्य एव तस्य भ्रमत्वमवस्तुत्वं वास्तु स्वरूपे न भ्रमत्वं नाप्यवस्तुत्वमित्यर्थः। २ यच्चोक्तं—

'धर्माधर्मौ न संबद्धौ शिवस्य न तयोः कृतिः।

ततश्च शिवधर्मादिर्वैबावेरकृतार्थता ॥'

इति, तच्च परिहरति धर्मेत्यादिना। अत्रापि पूर्वोक्तं सर्वं व्यवहारादिकमनुसर्तव्यम्। ४ 'अभावे स्वल्पभावे' इति नञर्थमाश्रित्य विवृणोति न्यूनतया वा विपरीतेति।

शिवस्यैवैकस्य कारणत्वे निमित्तसमवाय्यसमवायित्ववैचित्र्येण तस्य विचित्रता त्रितयात्मताख्या न दोष उक्तन्यायेन, यतो राजाज्ञा न समा तुल्योपदिष्टा, अपि तु राजाज्ञारूपसाम्येऽप्यन्यथा भेदः। तद्वत् तन्तुरूपेण संयोगरूपेण च स निमित्तमप्यास्ते। अथ वा स्वयं स तावन्निमित्तकारणं, तदिच्छा समवायिकारणं, घटादिवस्तुनः सत्तेच्छान्वयात् स एव चावयवसंयोगः सहकार्यसमवायिकारणमित्यर्थः। अथवा तस्यैकत्वेऽपि त्रित्वं यथोक्तप्रकारं व्यपदेशात् व्यवहारात् सर्वभेदव्यवहारस्याभेदाख्यातिरूपत्वम् ॥ ८१ ॥

न[1] पृथिव्यादिके तस्मिन्[2] कल्पना संप्रवर्तते ॥ ८२ ॥
तथात्वेनैव[3] क्लृप्तत्वात्तदेतत्कल्पना[4] भवेत् ।
तदेव[5] तत्कल्पितं किं सत्ये नामास्तु[6] कल्पना ॥ ८३ ॥

न च पृथिव्यादिरूपतया प्रतीयमाने भावजाते शिवरूपिता कल्पिता भवति[7], वस्तुस्थित्यैव[8] पृथिव्यादिरूपेण[9] वा शिवतत्त्वस्यैव क्लृप्तत्वात्[10]। अतद्रूपं[11] तद्रूपं यदावसीयते यथा मनोराज्यादि, तदा

---

१ यदुक्तं 'पृथिव्यादिकल्पनया कल्पनावान्' इति। यदि मायापरमाण्वादिकारणभावेन तत्तत्कर्तृत्वमस्याभ्युपेयते, तदा भिन्नवस्तुसद्भावात्केन विकल्पतास्य भण्यते। यदि तु तदभावेन कल्पना तर्हि भिन्नवस्तुशून्यत्वेन विकल्प एव, तच्च शून्यप्रायं तदात्मकत्वे शिवतत्त्वमपि शून्यप्रायमेव संबोभवीतीति पूर्वाशयः, तदेतत्समर्थयति नेत्यादिना। २ तस्मिन् शिवतत्त्वे। ३ तस्यैव तत्तद्वैचित्र्येणापि व्यवहारे स्थितत्वात्। ४ अप्रतीयमाने प्रतीयमानत्वम्। ५ शिवतत्त्वनेव पृथिव्यादि कल्पितम्। ६ नामेति परतोषार्थमनुमतिः। ७ यतः—

'स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम्।
अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते॥'

इति प्रत्यभिज्ञोक्तनीत्या यतस्तत्तद्विभिन्नाभासभावराश्यभावेऽपि सर्वमस्त्येव ततश्च कस्यातद्रूपस्य तद्रूपाभासनं नाम नवमाभासनं कल्पना कल्पितं भवेदिति भावः। ८ परमार्थनयेन। ९ व्यवहारदृशा। १० स्वयं संपन्नत्वात्। ११ पूर्वमनतद्रूपमधुना तद्रूपम्। ननु क्वान्यत्र कल्पितत्वं नामेत्यत आहातद्रूपमिति, मनोराज्यादावपि संविद एव तत्तदाभासाभासनसामर्थ्यमिति,

तत्कल्पना कल्प्यमानं भवेत्। यावता[1] साक्षाच्छिव एव सर्वमिति वस्तु-स्थित्या पृथिव्यादि शिव एव, शिवत्वेन किं[2] कल्पितं भवति न भवत्ये-वेत्यर्थः। अथ सत्यतस्तस्मिन्नेव[3] कल्पनेति कथ्यते तदवस्तु, अतस्तत्र कल्पनेति नामकृतिः[4] ॥ ८३ ॥

तदेवोदाहरति—

कटकेऽस्ति[5] सुवर्णत्वं कुण्डले कल्पनास्ति किम्।
चित्रवह्नावशोकादौ कल्पना राजते क्वचित् ॥ ८४ ॥
क्लृप्तकल्पनयोर्भेदं ये न जानन्ति नौमि तान्।

कटके किं सुवर्णत्वं सत्यं कुण्डले तु कल्पितं, नैवेत्यर्थः। चित्रगते वह्नौ, अशोकपुष्पादौ रक्ते वह्निकल्पना शोभते क्वचिदवसरे[7] पृथिव्यादि-रूपेण[6] शिवः क्लृप्तः सपन्नः स्वयं स्थित इत्यर्थः। कल्पितं पुनः स्वयं स तथा केवलमिष्यते तेन रूपेणेति क्लृप्तस्य स्वयंक्लृप्तेस्तथा संपत्तेः, कल्पनायाश्च स्वयमतथाभूतस्य तथा संभावनामात्ररूपाया ये शब्दार्थत्वे न भेदरूढास्ते वन्द्या इत्युपहासः ॥ ८४ ॥

शिवतत्त्वे[8] सानुभवे पश्यन्त्या[9] न समानता ॥ ८५ ॥

तत्रापि यदि कल्पितत्वं नास्ति तथाप्येतादृङ्नये तत्र कल्पितत्वं वादि-वादसमर्थनार्थमुपगतम्। १ एकान्तनिश्चयेन। २ यदि हि पृथिव्यादि पूर्वं न समभविष्यत्तदतद्रूपत्वात्तद्रूपावभासे मनोराज्यादिवद्वस्तुशून्यतया कल्पित-मेवाभविष्यत्, न तु पूर्वं नास्तीति संभावनाप्यस्तीति पूर्वमपि तद्रूपत्वाद-धुनापि तद्रूपत्वं कल्पितं न भवेदित्यर्थः। ३ तस्मिन्नेव शिवतत्त्वे। ४ परमार्थतो नात्र भेद इत्यर्थः। ५ कटक इव सुवर्णत्वं तदन्तः स्थितं विश्वं, कुण्डल इव पृथ्व्यादिरूपतया स्थितम्। ६ अयं भावः,—असत्यै सत्यसंभावना क्वचिदवसरे शोभते, किं पुनर्वक्तव्यं तद्रूप एव सत्यै संभावनेति। ७ ननु किं यथाऽशोकादावसत्ये सत्यवह्निसंभावना, तथात्रापि यदि, सिद्धमस्मदिष्टमित्यत आह पृथिव्यादीति। ८ ननु चास्तु पृथिव्यादिकल्पनायामपि तस्याविकल्पता तद्रूपतावभासनाभावात्, पूर्वमपि तस्य तद्रूपत्वेनैव स्थितत्वात्। अथेदानीं तदेव पूर्वभावि शिवतत्त्वं समर्थ-नीयं येनाधरमपि तस्य सिद्ध्यति तत्र चाहंपरामर्शो नाम वाग्रूपत्वाद्वि-कल्प एवेति कथं तत्राविकल्पत्वमित्याशङ्क्याह शिवतत्त्व इति। तथा यत्पुनः पूर्वपक्षे प्रत्यवस्थितं 'शिवतत्त्वे सानुभवे पश्यन्ती तुल्यता तदा।' इति, तदपि समर्थयति शिवतत्त्व इत्यादिना। ९ अत्र पश्यन्त्येति कारणे कार्योपचार इति दृष्टा पश्यन्तीदूषणैरित्यर्थः।

यतो गान्धिकसौगन्ध्यवत्पश्यन्नविकल्पकः ।

शिवतत्त्वे[1] चिदात्मनि विश्वनिर्भरे विश्वानुभवरूपे पश्यन्त्या पूर्वोक्तदूषणया[2] न समानता। यतो यथा गा[3]न्धिकोऽनन्तगन्धद्रव्यसौगन्ध्यमियत्तया अनवधारयन्नक्रमेण सर्वमवधारयन्नास्ते, तथा विश्वान् भावान् देशकालक्रमशून्यान्[4] वाच्यवाचकात्मनः पश्यन्नविकल्पः शिवो भवति, अहमित्येव[5] पूर्णाहंभावेनैषां प्रकाशनात्। अहंपरामर्शवानप्यविकल्पको

---

१ 'यान्युक्तानि पुराण्यमूनि विविधैर्भेदैर्यदेष्वन्वितं
रूपं भाति परप्रकाशनिविडं देवः स एकः शिवः।'

इति नीत्या यदनुस्यूतं महासामान्यनीत्या तच्छिवतत्त्वम्। उक्तं च भाषासूत्रेषु, 'यद्विश्वं तत्तस्याभ्यन्तरता' इति। २ पूर्वोक्तदूषणयेति। किमसावनुभवति ? किमात्मानमुत परात्मानं ? किमनुभूतमुताननुभूतं ? किं क्रमिकमुताक्रमिकमित्यादि ?। ३ अत्र गान्धिक इति दृष्टान्तकथनं तत्तदनन्तवस्तुगन्धस्याक्रमावबोधनार्थं तेन च विकल्पताहानिः फलं तस्य वस्तुद्वयसापेक्षत्वात्। ४ देशकालक्रमशून्यानिति, भेदस्याभाससदसत्त्वरूपत्वात् क्रमस्य च भेदाश्रयत्वात् तच्चाभाससदसत्त्वं प्रभोः प्राभवी शक्तिः, तदनाभासे कथमत्र देशकालयोग इत्यर्थः। क्रमस्वरूपपर्यालोचनया तदवभासकारी महेश्वर एव कालशक्तिमुपकल्पत इत्यर्थः। उक्तं चेश्वरप्रत्यभिज्ञायां—

'मूर्तिवैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ।
क्रियावैचित्र्यनिर्भासात्कालक्रममपीश्वरः॥'

तथा—

'सक्रमत्वं च लौकिक्याः क्रियायाः कालशक्तितः।
घटते न तु शाश्वत्याः प्राभव्याः स्यात्प्रभोरिव॥'

इति।

५ प्रकाशस्य ह्यात्मन्यहमिति परामर्शः परावाग्रूपत्वात्स्वभावभूतोऽतश्च न विकल्पः। स हि प्रतियोगिनिषेधपूर्वो, न चात्र प्रतियोगी नाम कश्चिदस्ति। तथाहि प्रकाशाद्धि प्रतियोग्यन्योऽप्रकाशसंज्ञः स स्वयमसिद्धः कस्य प्रतियोगित्वम्। अनाभासने प्रकाशेतरत्वाभावात्। अवभासे तु तथापि कः प्रतियोगी नाम, तथा च तस्यानवभासने व्यपोहनीयाभावात्कथं विकल्पत्वम्। तदुक्तमीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्—

यथा, तथा ईश्वरप्रत्यभिज्ञातोऽवधार्यम्। गान्धिकस्यान्यस्य[1] च तुल्ये गन्धानामियत्तयानुभवे गान्धिकस्य गन्धामोदवत्तया अन्यस्यैव तु तच्छून्यस्यैव। अनेन विश्वनिर्भरता समर्थिता, तावन्मात्रेऽयं[2] दृष्टान्तः॥ ८५॥

सत्यानि[3] स्वात्मरूपाणि पश्यतो न समानता॥ ८६॥

पश्यन्त्याथो[4] शिवावस्था क्रियाफलसमाप्तितः।
क्रियाया वाथ प्रारम्भे कल्पनीया प्रशान्तता॥ ८७॥
अस्तु सापि न भेदाय यथा तत्प्रविनिश्चितम्।

सादाख्येश्वरदशयोरपि न पश्यन्त्या समानता, सर्वमहमित्येवमात्माविभेदेनात्मविश्रान्तानि सत्यान्येव वस्तूनि तथा पश्यति प्रमाता। पश्यन्त्यां तु सुषुप्तावस्थायामिव भिन्नान्येव संसारदशोचितानि बीजभावेनासते, सुषुप्तोत्तीर्णेऽपि पश्यन्त्या अविद्यामयान्येव तद्दर्शने इति

'अहंप्रत्यवमर्शो यः प्रकाशात्मापि वाग्वपुः।
नासौ विकल्पः स ह्युक्तो द्वयाक्षेपी विनिश्चयः॥
भिन्नयोरवभासो हि स्याद्घटाघटयोर्द्वयोः।
प्रकाशस्यैव नान्यस्य भेदिनस्त्ववभासनम्॥'

इति।

१ ननु सर्वेषामेवानन्तगन्धावभासोऽक्रममेवास्ति किमर्थं गान्धिकस्येति व्यपदेश इत्यत आह गान्धिकस्येति, अन्येषां हि अनन्तावभासेऽपि क्रमेण ग्रहणमस्य सममेवेति भावः। गन्धामोदरहितस्य। २ तावन्मात्र इति, 'स यदास्ते' इत्यादिना लक्षितलक्षणायामित्यर्थः। ननु चास्त्वेवमत्र हि न किंचन अस्माकं दूषणमदूषणं वा महासामान्यतयास्य भवद्भिरुपगतत्वात्। या पुनः सदाशिवेश्वरदशा, तत्र कथमनुभवतीत्यत आह सत्यानीत्यादि। ३ परावस्थायां हि स्वभावभूतत्वात्सर्वस्य न तत्रानुभवाद्यसंभावनासंभावनादिशङ्कापीदन्ताभासाभावात् सदाशिवादाविदन्ताभासस्य भासयिष्यमाणत्वात्कथं तत्रानुभव इति तत्र पश्यन्तीसाम्यमायातीत्याशङ्क्याह सत्यानीत्यादि। ४ ननु चास्तु पश्यन्त्यामहमित्यात्माभेदेन सत्यान्येव वस्तूनि, अहमित्यत्र 'ज्ञानक्रिये सादाख्यम्' इति नीत्या ज्ञानरूपत्वात्सदाशिवस्य, क्रियारूपत्वाच्चेश्वरस्य तयोरेव विशेषत्वेऽनुभवतीति युज्यते, विशेषस्य तु सामान्यपूर्वभावित्वात्पूर्वावस्था निरनुभवा सिद्ध्यतीत्यत आहाथो इति।

शेषः। अथ ज्ञानक्रियाप्रारम्भपर्यवसानयोः प्रशान्तता नाम शिवावस्था कल्पनीया, सा चेच्छादिशक्तिशून्यरूपा निरनुभवा जडरूपेत्युच्यते। तन्न, यतोऽस्तु सा दशा, न तु तदापि सर्वशक्तिविरहो येन शिवतत्त्वात् भेदाय सा स्यात्, किंतु सर्वावस्थासु सुसूक्ष्मतया इच्छादिशक्तियोग इति प्रथमाह्निक एव निश्चितम् ॥ ८७ ॥

न च वास्त्यन्तरालेऽत्र सा दशा याहि केवला ॥ ८८ ॥
प्राक्क्रियाफलनिष्पत्तेः समनन्तरमेव यत्।
प्रसर्पत्यपरेच्छैव[1] पुनरन्या तथाविधा ॥ ८९ ॥
न कदाचन तस्यास्ति कैवल्यं शक्तिशून्यकम्।

नास्त्यपिवान्तराले द्वितीयक्रियाप्रारम्भात् प्राक् अत्र सा दशा, या शान्तता शक्तिशून्यता लक्षणा स्यात्। यत् यस्मात् क्रियाफलसंपत्तेः समनन्तरमेव प्रसरति अपरेच्छैव सुस्फुटपरसंवित्तिक्रियार्था, न तु तदा शून्यता। पुनरपि तत्क्रियाफलसमवाप्तौ तदनन्तरमेवान्या तथाविधेच्छैव प्रवर्तते। किं बहुना, उभयथा न कदाचन चिद्रूपस्यान्तराललक्षणं कैवल्यं शक्तिशून्यकं नाम रूपमस्ति ॥

तथाहि—

यत्रात्मानुभवानिष्ठा तत्रेच्छा च न किं भवेत् ॥ ९० ॥
अथानुभवनं नास्ति जडा सा न प्रसज्यते।

यत्रात्मानुभवस्य अनिष्ठा विरत्यभावः, तत्रानुभवनक्रियार्थं किमिच्छाक्रिया नास्ति, नहि अनुबुभूषां विनानुभवः स्यात्। अथात्मनोऽनुभवनं नास्ति न प्रकाशत इत्यर्थः, सावस्था जडा न प्रसज्यते, प्रसज्येतैव। काक्वा योजनीयम्। आत्मनो ह्यहमिति परामर्शोऽनुभवः, सैव चाजडता जडवैलक्षण्यदायिनी ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तनीत्या ॥

---

१ इत्थमत्र ज्ञानक्रियाप्रारम्भपर्यवसानयोः शान्ततायामपि सूक्ष्मतया तादृगनुभवशालिनामेवेच्छादिशक्तिसंभवः सन्नप्याभाति। अथेदानीं सर्वेषामेव स्फुटं तथेच्छादिशक्तियोगस्तथा न्यायमप्याश्रित्य ब्रूते न चेति। तत्र नदीपूरभेदेन भूताया वृष्टेर्यथानुमानं, तथेहापि कार्येण कारणानुमानमित्याह प्रसर्पतीति।

उपलादेर्जडत्वेऽपि[1] शिवत्वं ते कथं स्थितम् ॥ ९१ ॥

यथा न तत्र जडता तथाग्रे प्रविचार्यते ।

अथ जडत्वेऽप्युपलादेः शिवत्वोपगमात् जडतासञ्जनम्[2] । कोऽयं दोषः, नत्वयं दोष एव[3] । यथा नोपलादेर्जडता, तथाग्रे समीप एक प्रकर्षेण विचार्यते[4]—इत्ययमेकः पूर्वोक्तप्रकारो[5] वितत्य कथितः ॥

सफलायां समाप्तायां क्रियायां समनन्तरम् ॥ ९२ ॥

क्रियान्तरेच्छासंभूतिस्तन्निमित्तमनन्तता ।

यतोऽस्ति शिवशक्तीनां ताश्च नित्यमवस्थिताः ॥ ९३ ॥

सरन्त्येव स्वभावेन तत्सरत्प्रकृतिः शिवः ।

अथवा स्थूलायां क्रियायां सफलायां समाप्तायां, तदनन्तरमेव सफले क्रियान्तरे इच्छासंभवो यावदपर्यवसानं, तत्र निमित्तभूता अनन्तता यतोऽस्ति शिवशक्तीनाम् । शिवशक्तयश्च नित्यमवस्थिताः सरन्त्येव स्वभावतः । ताश्च शक्तयः प्रसरन्त्यो यतः, तत् सरन्ती प्रकृतिर्यस्य स तथाभूतः शिवः तथाभूतलक्षणत्वात्तस्य । यथोक्तम्—

'अन्यथा तु स्वतन्त्रा स्यात्सृष्टिस्तद्धर्मकत्वतः ।' (स्प० ४।५)

इति । इति द्वितीयः[6] प्रकारो वितत्योक्तः ॥

अथवाह—

ईश्वरस्य[7] स्वतन्त्रस्य केनेच्छा वा विकल्प्यते ॥ ९४ ॥

---

१ ननु चाहमित्यविकल्पकं पश्यन्निति किमुच्यते, यतः सर्वमेवोपलादिकं जडमेव, तत्र जडत्वादेवाप्रकाशता, अप्रकाशे तु कथमहमित्यविकल्पमेव परामर्शः संभवति । न केवलमियदेव । तस्यापि शिवत्वे शिवोऽपि तथा जड एव प्रसज्येत । भेदे तूपलादिकं जडमस्तु चेतनं वास्तु, न काचन भवदभ्युपगतशिवत्वहानिरित्यत आहोपलादेरिति । अत्र शिवत्वं ते कथं स्थितमित्येव साध्यं, न तु जडे शिवत्वं कथमिति । तस्य तूपलादेर्भवतामपि जडत्वमेवोपगतमिति । २ शिवतत्त्वस्य । ३ एवकारेणात्रोपलादेरपि जडतासंभावना निरस्ता, तेन शिवत्वे जडता दूरापास्तैव सिद्धा । ४ अर्थलभ्यत्वादत्र शिवत्वं पुनर्न समर्थितमिति बोध्यन् । ५ तावन्मात्रस्थिताविल्यर्थः । ६ परापराख्यशक्तिप्रसर इत्यर्थः । ७ यदुक्तं दूषणोद्युक्तबुद्धिभिः परमार्थान्वेषणकुण्ठैः पूर्वपक्षिभिः विशिष्टेच्छावशादभीष्टेयज्जग-

विभवामोदबाहुल्यस्याथवोक्ता निमित्तता ।

केन वास्येच्छा[1] विकल्प्यते स्यात् न स्याद्वेति । स्वातन्त्र्यं तावदवश्यंभावि ईश्वरत्वादेव, तन्मयं विश्वं तथाविधमेव[2],–इत्येतावत् तावत्स्थितम् । अथवा स्वातन्त्र्येऽपि विश्वात्मताप्रसरणरूपस्वविभवास्वादोऽपरिसमाप्तो यस्यास्ति स्वभावविशेषस्तस्य प्रागुक्तैव सर्वदा विश्वरूपताप्रसरणे निमित्ततेत्येवमभिनवेच्छोदये निमित्तं नास्तीति दूषणम्[3] ॥

विश्वतुच्छत्ववाक्यानां[4] वैराग्याद्यर्थवादिनाम् ॥ ९५ ॥

तात्पर्येण न दोषोऽस्ति नानाचित्त्वं न कल्पते ।

विश्वमसत्यं बुद्बुदोपममिति शिवोक्तैरपि वाक्यैर्न विरोधः, यत एषां[5] वैराग्यनिरात्मतादिप्रयोजनाभिधानवतामेकशिवात्मता समर्थनपरत्वेन न दोषोऽस्ति । न च सर्वशिवत्वे नानाचित्त्वप्रसङ्गः ॥

ल्लक्षणकार्यसंपत्त्या हेतुभूतया इच्छाकारणविरतौ पुनः स्थितिप्रलयादौ पटादिविज्ञाने वा इच्छान्तरोद्गमे को हेतुः, यत्प्रेरितस्य शिवस्य पूर्वस्वभावनिवृत्तावपूर्वस्वभावान्तरे चेच्छा नवनवा प्रवर्तत इति, तदपि तेषामनादरपूर्वं समर्थयति ईश्वरस्येति । अयं भावः—यदि हि स्वतन्त्रईश्वरः परिमितेनैवेच्छादिना व्यवतिष्ठेत, तर्हि त्वस्य स्वातन्त्र्यमेव नश्येत् । स्वतन्त्रो हि सदापरिमितस्वरूपो नवनवोदयः । यदि च केवलमिच्छास्य पूर्वभाविन्येवास्थास्यत्, तर्ह्यस्य परिमितत्वेन शून्यतैवागतेत्यर्थः । १ अस्य–स्वतन्त्रस्य । २ कुत्र पुनः पूर्वस्वभावतादिनिवृत्तावपूर्वस्वभावान्तरोदयादि इत्यर्थः । ३ काक्वा न दूषणमित्यर्थः । ४ यत्पुनरुक्तं—

'विश्वस्यासत्यरूपत्वं यैर्वाक्यैर्वर्णितं क्वचित् ।
शिवोक्तैस्तैर्विरोधः स्यात्सर्वसत्यत्ववादिनः ॥'

इति, तदपि समर्थयति विश्वेति । ५ शिवोक्तवाक्यानाम् । यतोऽसत्यत्वं सत्यमेवोक्तं, तच्चानवबोधाद्विधुरीकृतमल्पबुद्धिभिः, तच्चासत्यत्वं कश्चिद्भागव्याप्त्या भागे रज्येतेति भागशो व्याप्तिरसत्येति वैराग्योत्पादनार्थं तत्रासत्यत्वम् । तथा येऽत्र स्वभाव एव वस्तुनो वस्तुतेति, तद्वादिनिरासार्थमेषां नैरात्म्यं दर्शितमित्यर्थः ।

तथाहि—

एकस्मिन्नेव[1] देहे तु विभेदात्परमाणुगात्[2] ॥ ९६ ॥
एकत्वाच्छिवरूपस्य दोषोऽयं भेदवादिनाम् ।

एकस्मिन्नेव देहे यावन्तः परमाणवस्तावन्तः शिवा इत्येवं परमाणुगादपि विभेदाद्विभेदः स्यादित्यानन्त्यप्रतिपादनमित्येषोऽपि न दोषः, ये बहवः परमाण्वादिपदार्थास्त एकशिवरूपा इति कथं बहुत्वम् । न हि शिवो घटादिरूपः, अपि तु घटादिः शिवरूपः । ततश्चिद्रूपस्य देशकालस्वभावभेदाभावान्न भेदः । एतदीश्वरप्रत्यभिज्ञायां प्रदर्शितम् । यैः[3] पुनरणुभेदवादो गृहीतस्तेषां चाणूनां स्वभावाच्छिवता । सा च मलावृता । ततस्तेषामत्रोक्तज्ञानवशाद्यदि शिवत्वव्यक्तिस्ततो भिन्नाः शिवाः । ते च देहस्थास्तन्मयत्वे चाणूनां देहपरमाणव एव किमिति शिवाणवो न भवन्तीति भिन्नपरमाणुवादो न चित्तत्त्वस्य, ततस्तेषामेवायं दोषः ॥

---

१ अत्रैके—'यद्यत्किंचन प्रतिभाति, तत्तत्सर्वं शिवः' इति विलोमव्याप्तिं विदधते । तथाहि यद्यदिति अनेकं नानाविधं भिन्नं भिन्नमर्थजातं, तत्सर्वं शिव एवेति यद्यपि शिवाद्वयमेव, तथापि तेषां बहुत्वाद्भिन्नत्वादबहूनि भिन्नानि शिवान्यपि संभवन्तीति तत् दूषयति एकस्मिन्निति । २ विभेदात्परमाणुगादित्यत्र द्विधा गतिः । न्यायबाहुल्यं चान्यत्र । अत्र तावदेके ब्रुवन्ति—यथा प्रतीयतेऽयं बाह्यो निराकारेण साकारेण वा ज्ञानेन नैकानेकरूपतया सावयवः, तथा अयुक्तः एकत्वानेकत्वयोः परस्परपरिहारेणावस्थानादेकाश्रयत्वायोगात् । तस्मान्निरवयव एक एवावयवी बाह्यो देवदत्तप्रतीतिविषयः, अवयवास्तु पृथक्प्रतीत्या हस्तः पाद इति पृथग्भूताः प्रतीयन्ते, न त्वेकत्वानेकत्वयोरनेकाश्रयतेति अवयववादिन आहुः । ३ अत्राहुरपरे—तदेतदयुक्तं हस्ते चलति चलतो देवदत्तस्य, पादादिषु वा चलत्सु चलतश्चलत्वाचलत्वलक्षणविरुद्धधर्मयोगः स्यादेकस्य । न चैतद्युक्तं तावन्मात्रलक्षणत्वादनेकत्वस्य । प्रत्यवयवं च सर्वात्मना युगपत्समवेतेऽनेकत्वं स्यात् एकावयवापाये च नाशः स्यात् । अवयवान्तरावस्थानादनष्टस्यापि पर्यायेणैकैकावयवापायाविनाशिनः सर्वावयवापायेऽपि अविनाशः स्यात्, तस्मात्परमाणव एव निरवयवाः संचिता इति परमाणुसंचयवादिनः ।

एकाधिष्ठानतो वापि तेषामपि न दूषणम् ॥ ९७ ॥
आन्तरे कृमिचैतन्ये चित्रता स्वामिभृत्यवत् ।
तावदेकचित्स्वरूपशिवप्रसरणेन वा ॥ ९८ ॥
पातञ्जलादीश्वरेण[1] न साम्यमविभेदतः ।
इह तद्वच्च विज्ञेयं तस्मात्सर्वं स्थितं शिवः ॥ ९९ ॥

अथवा तेषामणुभेदवादिनां नानाचित्त्वं न दूषणम्, यत एकचिद्रूपशिवाधिष्ठिता नानात्मान एकस्यैव निजमायाप्रथनादिति यथा शिवाद्वयदर्शने। अस्माभिः सविस्तरमिदमपि ईश्वरप्रत्यभिज्ञायामेव समर्थितम्। अभेदाख्यातिश्च[2] तारतम्येन भिद्यते पुर्यष्टकभोगोद्रेकात्। चित्रता क्रिम्यादिचैतन्ये स्वामिभृत्यरूपशक्ताशक्तचैतन्यद्वयात्मत्वात्। अथवा[3] तावत्परिमाणमनेकक्रिम्यादिपर्यन्तमेकचित्स्वरूपस्य शिवस्य यत्प्रसरणं, तेन। अत्र पक्षे पुर्यष्टकाधरीकारेण चितेरुद्रेकात् शिवाद्विभेदस्तस्यैव तथारूपत्वात्। अत एव मायाशक्तिवशात् तथैकत्वाप्रथनादनेकत्वम्, वस्तुतस्त्वभेद इति। पातञ्जलेन पुरुषविशेषेणेश्वरेण, तथा वैशेषिकादिस्थितेन न साम्यं तत्र भेदाभ्युपगमात्, इह त्वभेदः। तद्वदीश्वरदर्शने न ज्ञेयम्। अतः सर्वमेव भावजातं शिवात्मकं स्थितं तथाभावे सर्वदूषणपरिहारादिति ॥ ९९ ॥

इति श्रीशिवदृष्टिवृत्तौ श्रीमदुत्पलदेवपादनिर्मितायां तृतीयमाह्निकम् ॥

---

१ ननु च यदि चितेरुद्रेकात्तत्तच्छक्तिमद्व्यपदेशस्तर्हि पातञ्जलमतं, तर्हि 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' इति लक्षणं कृतमित्येतदपि शङ्कित्वा समर्थयति पातञ्जलादीति। २ ननु चास्तु सर्वथा शिवैक्यं, तथापि किंकृतोऽयं विचित्रताभेदः यतः कोऽपि बहुशक्तियुक्तः, कोऽपि न्यूनशक्तियुक्त इत्यत आहाभेदाख्यातिरिति। ३ ननु च यदि पुर्यष्टकभोगोद्रेकाच्चित्रता, तर्हि तदधीनत्वात्तस्यापि स्वातन्त्र्यं, क्व तत् परेशस्वातन्त्र्येणेत्याशङ्क्य पक्षान्तरेण कथयति अथवेति।

अथ

चतुर्थमाह्निकम्

परोद्भावनीयदूषणशङ्कानिराकरणे[1] कृते सर्वशिवत्वमिदानीं[2] स्वरूपेणोपपादयितुमाह[3]——

---

१ उद्भावनीयः प्रकटनीयः। २ सर्वं च तच्छिवत्वम्। ३ युक्त्या संपादयितुम्। यदुक्तं——

'आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः।

अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः॥'

इति यद्यपि सर्वथा मुख्यतो निष्पाद्यं, तथापि परवादिकुतर्कपांसुपातधूसरोभावेन मा तावत् कश्चिद्व्यामुह्येदिति परवादिकुतर्कपांसुरेव तावत् सुतर्कसुगन्धशीतलामृतेन प्रहतः। तथाहि सर्वत्रैवात्र वादिनां विप्रतिपत्तिः। आदौ तावच्छान्तब्रह्मवादिनां सर्वभागेष्वत्र विरोधः। यद्धि ब्रह्मणः स्वस्वभावभूतं स्वसत्तात्मकं स्वप्रकाशत्वं नाम प्रत्यवमर्शनं, तच्च तैर्विकल्पपक्षे निक्षिप्तम्। विश्वप्रक्रियां प्रति मायाशक्तिप्रस्रवात्स्वातन्त्र्यमप्यपह्नुतमेव। तथा च तस्य मायामयत्वेन कुत्सितत्वात् कथं तत्रात्मत्वमित्यपीष्टमेव तेषां नेतिनेतिवाक्यैः सर्वस्य निराकरणात्। तस्य विश्वस्य कुत्सितत्वकथनात्कथमस्य तत्रानिरुद्धेच्छत्वं, ज्ञानकाले च बुद्धिवृत्त्यात्मनो ज्ञानस्याश्रयणात्कथं प्रसरज्ज्ञानत्वम्। क्रिया च प्राणस्पन्दात्मिकैवेति कथं तत्र स्मादिति। सर्वथापह्नव एव शून्यवादिनाम्। पातञ्जलवैशेषिकादिमते यद्यपि ईश्वरतत्त्वमुपगतं, तथापि भेदवादत्वादात्मैवेति कथं सिद्ध्येत्। सांख्यादौ पुरुषस्य निष्क्रियत्वे कथं क्रियाशक्त्युपगमः। बौद्धादीनां क्षणिकत्वात्कथं विभुत्वनित्यत्वे। शब्दब्रह्मवादे स्वातन्त्र्यापगमादविद्याश्रयणात्कथमनिरुद्धेच्छत्वं सिद्ध्यतीति सर्वथा तद्वादभङ्गे शिवाद्वयवादे स्थिते यथा तत्सिद्धमेव प्रतीतिगोचरतामेति, तथा कथनीयमित्याह परोद्भावनीयेति।

अथेदानीं[1] प्रवक्तव्यं यथा सर्वं शिवात्मकम् ।
नाशक्तो विद्यते कश्चिच्छक्तं वस्त्वेव तेऽपि नो ॥ १ ॥
इष्यन्ते बहवः शक्ता सर्वस्वातन्त्र्यमापतेत् ।

दूषणनिराकरणादनन्तरं विधिमुखेनैव[2] संप्रति तद्वक्तव्यमस्माभिः तथा सर्वं शिवात्मकं सिद्धयति तदुच्यते । अशक्तश्चार्थक्रियायां विद्यते च,–इत्येतावन्नास्ति प्रख्योपाख्याकरणेन[3] तावदव्यभिचारात् । शक्तं[4] चेत्, तद्वस्त्वेव परमार्थसदेव शिवरूपमिति । तथाहि क्रियाकरणशक्तिः कर्तृता चिद्रूपता शिवरूपत्वमपि चिद्रूपस्येच्छारहितस्य[5] कर्तृत्वायोगात् । घटपटादिकं[6] करणशक्तं चेत्, तत् स्वतन्त्रं चिद्रूपं शिवरूपमेवेति । बहवश्च[7] घटादयः प्रत्येकं शक्ता नेष्यन्ते, सर्वेषां तथा स्वातन्त्र्यं प्रसज्यते[8] । ततश्च

---

१ अस्याचार्यस्य सर्वथा प्रनीतौ विशिष्टत्वात्सर्वथा यदत्राह्निके प्रतिपादनीयं, तद्बीजाक्षरमाहात्थेति । तथाहि—

'अकारः शिव इत्युक्तस्थकारः शक्तिरुच्यते ।'

इति रहस्यनयेनात्र सर्वशिवत्वं मुख्यतः प्रतिपादनीयं, तत्रापि तत्सर्वशिवत्वं शक्त्यैव समर्थनीयमित्यकारथकाराभ्यां शिवशक्तिव्यपदेशोऽत्र कृतः । तथेदानीमित्यप्येतादृगभिप्रायार्थमेव सूचितं, तत्तु विस्तरभयान्नेह विविच्यते । २ ननु परवादनिराकरणेनैव सर्वं गत्यन्तराभावाच्छिवात्मकं सिद्धयतीति किं पुनरुक्त्या, तत्राह विधिमुखेनेति । पूर्वं तु सर्वनिराकरणेनैव समर्थितमपि निषेधमुखेनैव साधितमित्यर्थः । ३ विद्यते यदि, तर्ह्यर्थक्रियायामशक्त इति किमेतत्, यत्र यत्र हि सत्त्वं, तत्र तत्र शक्तत्वमर्थक्रियाकारित्वमित्यर्थः । तदेवाह—प्रख्येति प्रख्या सत्त्वमिति । ४ शक्तत्वाभ्युपगमे च किमित्यत आह शक्तमिति । ५ इच्छारहितं चिद्रूपं न किंचित्तस्य स्वरूपाभ्युपगमरूपत्वादितीच्छासहितं चिद्रूपं शिवरूपं कर्तृत्वम् । ६ अत्रापि पूर्ववन्न्यायः यतो घटपटादिकं करणशक्तं, ततश्च चिद्रूपं चिद्रूपस्येच्छारहितस्य कर्तृत्वायोगादिच्छासहितं स्वतन्त्रं शिवरूपमेवेत्यर्थः । अत्र जडत्वमेषामाशङ्क्य न्यायमाह बहव इति । ७ ननु जडचेतनव्यवस्थायां मेतत्सिद्धयति, एषां हि पराधीनत्वमेव स्फुटं भाति, एषां स्वतन्त्रचिद्रूपत्वेऽनन्याधीनत्वात्, सर्वे स्वात्मनि स्वतन्त्रा इति किमस्याधीनमिति व्यवस्था नश्येदित्यत आह बहवश्चेति । ८ यदि च प्रत्येकं घटादौ स्वातन्त्र्यं स्वयमिष्यते एकप्रमात्रनधीनत्वाद्भिन्नाभिन्न एवाभिसंधिः सर्वत्र प्रसज्यते, तथा

भिन्नाभिसन्धितया[1] नवमिदमस्तु पुराणमथास्तु[2]—इत्येकस्य नवपुराणभावविरोधप्रसङ्गः। न चैवं दृश्यते[3] ॥

अथैकस्याधिका शक्तिर्न्यूनशक्तिनिबन्धिनी[4] ॥ २ ॥
स्वकार्यविषये सर्वः शक्त[5] एव निबन्धनम्।
शक्तस्य[6] शक्यते कर्तुमेवं चेन्नान्यशक्तता[7] ॥ ३ ॥

अथैकस्याधिका शक्तिर्यस्मादन्यशक्तिमसौ निबध्नाति नियमयति, ततश्च तस्य न्यूना। स्वकार्ये विषयभूते तु सर्वः शक्त एव। निबन्धनं नियमनं हि शक्तस्यैव, न तु तैलदानशक्तिः सिकतासु शक्यक्रिया। तदेदं[8] यदि सर्वशक्तित्वमिष्यते, ततो नान्येषां घटादीनां प्रत्येकं शक्तता स्वतन्त्रता ॥ ३ ॥

च घटोत्पत्तौ नवं स्वकीयमेव स्वातन्त्र्यं किं किं वा निर्मातृकृतं पुराणमित्यैकस्यैकत्र निश्चयाभावादुभयमापतति। तच्चानिष्टम्। तत एतत्सिद्धं तस्यैव शक्तिमतः शक्तिस्वरूपं सर्वं पदार्थजातं शक्तमेव न तु तस्य स्वकीयं लेशमात्रेणापीत्यद्वयमेव फलितम्। १ अनुसन्धानेन। २ प्रमातृसंबद्धम्। ३ प्रत्यक्षविरुद्धत्वात्। ४ निरोधिनी। ५ स्वशक्तिक इव। ६ अत्र हेतुमाह शक्तस्येति। ७ ननु किमिदमुच्यते भिन्नाभिसन्धितया नवपुराणभावप्रसङ्ग इति। पुराणा हि शक्तिरौत्कर्ष्यभागिनी तत्कृतत्वादस्य घटादेरर्थजातस्य घटादेः शक्तिः पुनस्तत्कृतत्वादेव हेतोर्न्यूनेत्यतः स्वयं शक्तापि न्यूनत्वात्तस्य नियमस्येति न नवपुराणभावप्रसङ्गः। एकत्र सिद्धं च सर्वत्र शक्तत्वं प्रत्येकमेवान्यथा शक्तत्वाभावे कस्य निबन्धनत्वम्। यथोक्तं—

'प्रेर्योऽपि स भवेद्यस्य शक्तता नाम विद्यते।'

तदेतदस्मदभीष्टमेवेत्याह एवं चेदिति। ८ तदेवं घटपटादीनां शक्तिमतः शक्तिरूपत्वात् स्वकार्यविषये शक्तत्वेऽपि स्वयं तदधीनत्वं प्रसङ्गनिराकरणार्थं समर्थितम्। अथेदानीं येऽपि स्वयं जडेभ्यश्चेतना इति लोकप्रसिद्धास्तेऽपि चेत्थंस्वरूपका इति कैमुतिकन्यायाश्रयणेन मा घटादीनां वार्ता इत्याह नृपादीति। अयमर्थः—यथा सेवकस्य नृपादौ सेविते स्वकार्यफलता कार्यापेक्षया भवति तदधीनत्वात्, तथा शक्तस्यापि प्राणिनः स्वकर्मफलता पराधीनैवेति सर्वथैक्येऽपि शक्तिमदेकत्वमेव सर्वत्र समर्थितम्।

तथाहि—

नृपादिसाधनापेक्षा स्वकर्मफलता भवेत् ।
सर्वः शक्तोऽपि सापेक्ष ईशवन्मोहसाम्ययोः ।। ४ ।।
तस्मादनेकभावाभिः[1] शक्तिभिस्तदभेदतः ।
एक एव स्थितः शक्तः शिव एव तथा तथा ।। ५ ।।

सेवितनृपादिसाधनकार्यापेक्षैव स्वकर्मफलता स्यात् । स्वानि भोग्यानि कर्मफलानि यस्य तस्य भावः । यतः सर्वः स्वयं शक्तोऽपि सापेक्ष एव व्याप्रियते । यथा[2] द्वैतदर्शनेऽपीश्वरो मोहं मायातत्त्वमपेक्ष्य सर्गे प्रवर्तते, कर्मसाम्यं[3] चापेक्ष्य अनुग्रहे, न चाशक्तोऽनीश्वरः । तस्मादनेकघटपटस्वभावाभिः शक्तिभिस्तच्छक्त्यभेदतः शक्तिमत्तालक्षणत्वात् शिवत्वस्य एक एव शिवः स्थितः तेन तेन प्रकारेणानेकशक्तघटपटादिपदार्थात्मकत्वात्तस्य । घटचितस्तावन्मात्ररूपायाः स्वातन्त्र्ये पटचिता सह अनुसन्धानं न स्यात् । तस्मादेकमेव चित्तत्त्वमनन्तविश्वरूपमिति ।। ५ ।।

तथा यत्र सदित्येवं प्रतीतिस्तदसत्कथम् ।
यत्सत्तत्परमार्थो हि परमार्थस्ततः शिवः ।। ६ ।।
सर्वभावेषु चिद्व्यक्तेः स्थितैव परमार्थता ।

शक्तं वस्त्वेवेत्युक्तं, वस्तु च सदुच्यते । यच्च सत्, तन्नासदिति स एव परमार्थः । यस्माच्च परमार्थस्ततः सत्त्वात्परमार्थत्वाच्छिवः । ननु

---

१ ननु चायातं तर्हि भेदवादिनामिव द्वैतमयत्वं विशिष्टत्वात्तन्मते-ईश्वरस्येत्याशङ्क्याह तद्विशेषार्थं तस्मादिति । २ ननु शक्तत्वे कथं सापेक्षत्वं, सापेक्षत्वे शक्तत्वमेव न संभवतीत्यत्र शक्तत्वे सापेक्षत्वं दृष्टान्त-कथनेन द्रढयति यथेति । ३ कर्मसाम्यमिति, इत्थं हि तत्प्रक्रिया—विरुद्धयोः कर्मणोः समबलयोरन्योन्यप्रतिबन्धे कर्मसाम्यं, ततश्चेश्वरानुग्रहः भोगोन्मुखयोरेव कर्मणोरन्योन्यप्रतिबन्धः, जात्यायुष्प्रदस्य कर्मणः प्रतिबन्धे तदैव देहपातप्रसङ्गः, भोगस्यैव संसारविक्षेपदायित्वात्तद्रूपस्य प्रतिबन्धेऽनुग्रहो नान्यस्येति ।

कथं परमार्थमात्रत्वेन शिवः, जडोऽपि कथं न परमार्थः[1] ? तन्न। जडस्य सत्तैव कथं चिद्व्यक्तिं विना सिद्धा। स्फुरद्रूपता हि सत्ता। स्फुरद्रूपता च प्रकाशमानता। ततश्च जडता तावन्नास्ति। प्रकाशमानता हि प्रकाशाभेदः। प्रकाशश्चानपह्नवीयः सर्वप्रतिष्ठारूपः परमार्थः। सर्वेषां च घटादीनां प्रकाशरूपतया विशेषाभावादेकप्रकाशात्मता, तत एवैकशिवत्वम्। एतदीश्वरप्रत्यभिज्ञायां[2] विस्तारितम्॥

मिथ्याज्ञानविकल्प्यानां सत्त्वं चिद्व्यक्तिशक्तता॥ ७॥
विद्यते तत्तदत्रापि शिवत्वं केन वार्यते।
इति चेदेषु सत्यत्वं स्थितमेव चिदुद्गमात्॥ ८॥
तथा शिवोदयादेव भेदो मिथ्यादिकः कथम्।
व्यवहाराय[3] सत्यत्वं न च वा व्यवहारगम्॥ ९॥

मिथ्याज्ञानविकल्पनीयानां[4] रजतसर्पादीनां घटादीनामिव चिद्व्यक्तिशक्तिता प्रकाशमानता नाम विद्यते, तदेव सत्त्वं परमार्थत्वमतोऽपि तच्छिवत्वम्। अनिवार्यं च एतदिष्यत एव एषु सत्यत्वं चिदभि-

---

१ अयं भावः—यदि घटादिर्जडरूपस्तर्हि तस्याप्रकाशनात्कथं परमार्थमात्रत्वमपीति कथं जडरूपत्वेन प्रथनम्। अथ प्रकाशत इति प्रकाशमानतास्य स्फुरद्रूपता ततश्च जडत्वेनास्य केन व्यपदिश्यत इति।

२ तत्र तु—

'घटोऽयमित्यध्यवसा नामरूपातिरेकिणी।
परेशशक्तिरात्मेव भासते न त्विदन्तया॥'

३ ननु किमिदमुच्यते,—

तथा यत्र सदित्येवं प्रतीतिस्तत्कथमसत्।
यत्सत्तत्परमार्थो हि परमार्थ········॥

इत्यादि, केवलं सन्मात्रत्वेऽतिप्रसङ्गः। न हि रजतादावर्थक्रिया लेशमात्रेणाप्यस्तीत्यर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वमिति तत्र तत्र निर्णीतं, रजतादौ च मिथ्याज्ञाने काचनाप्यर्थक्रिया नास्ति। यदि च चिद्व्यक्तिशक्तताया एव घटादाविव तत्रापि प्रतिश्रूयेत तर्हि कोऽयं सम्यक्त्वमिथ्यात्वनयो लोकप्रसिद्ध इति तदेतत्समर्थयति व्यवहारायेति। ४ यथा जडस्य कथं सत्तैव चिद्व्यक्तिं विना सिद्धा, चिद्व्यक्तौ च सत्तायां स्फुरद्रूपतायां प्रकाशमानतायां सिद्धायां प्रकाशाभेदात्सर्वप्रतिष्ठारूपपरमार्थत्वान्न जडता नाम काचनास्ति,

व्यक्तेः, तेन तेन रूपेण शिवस्य प्रसरोऽयं यतः। घटज्ञानरजतज्ञानयोश्च द्वयोरपि सत्यत्वे सम्यग्मिथ्यात्वभेदस्तर्हि कथम्। व्यवहाराय व्यवहारप्रयोजनोऽसौ। न च अप्ररूढत्वात्[1] व्यवहारसत्यत्वं वा सत्यत्वं भवति॥ ९॥

तथा[2] च देशे क्वचन राजाज्ञा जायते यथा।
व्यवहारोऽस्तु दीनारैरेतैरव्यवहारगैः॥ १०॥
प्रवर्तते तथाभूतैरन्यत्रापि तथान्यथा।

राजाज्ञया कूटदीनारैरपि व्यवहारोऽस्त्येव। तथान्यत्रापि इच्छामात्रात् यथासंकेतं वस्तु अनपेक्ष्यैव कालव्यवस्थारम्भादिव्यवहारः॥

व्यवहारस्य[3] सत्यत्वे सर्वत्रासत्यतैव ते॥ ११॥
सत्यत्वे तस्य हानिः स्यात्पक्षेऽभ्युपगते किल।

यदि पुनरप्ररूढस्य व्यवहारस्यासत्यस्यापि सत्यतेष्यते, तदेवंजातीयतया सर्वमिदं जगत्सत्यं स्यात् असत्यतापरमार्थं व्यवहारवदित्यर्थः। तस्य जगतः परमार्थतः सत्यत्वे सत्ययं दोषो व्यवहारसदृशसत्यतात्मकः स्यात्तव। एवं च सर्वसत्यतावादपक्षेऽभ्युदिते शास्त्रोदिते हानिः स्यात्॥

तस्यापि[4] किं शिवावाप्तिः कथमुक्ता ह्यसत्यता॥ १२॥
व्यवहारतयैवास्ति सत्यत्वं न निबन्धनात्।

तथा मिथ्याज्ञानविकल्प्यानां सत्तैव चिद्व्यक्तिं विना न सिद्धा, चिद्व्यक्तौ च स्फुरत्तारूपायां सत्यां तेषामपि प्रकाशाभेदात्सर्वप्रतिष्ठारूपपरमार्थत्वान्न मिथ्यात्वं नाम किंचन संभवति। १ निश्चयेनादृढत्वात्। २ अत्र दृष्टान्तमाह तथा चेति, यदि च व्यवहारसत्यत्वेन सत्यत्वं तर्हि व्यवहारसत्यत्वे व्यवहारगैरेव दीनारैः सर्वथा व्यवहारः स्यात् अव्यवहारगैस्तु कथं, तेषामसत्यत्वात्। तथा च तेषामपि कदाचित्सत्यत्वे कथं व्यवहारगं सत्यत्वमसत्यत्वं वेति न व्यवहारगेन सत्येनासत्येन वार्थक्रियाकारित्वमित्यर्थः। ३ अत्रातिप्रसङ्गमाह व्यवहारस्येत्यादिना। ४ ननु व्यवहारासत्यत्वं यदि चिद्व्यक्तिं विना सेत्स्यति तदा तदसत्यमेवास्तु यतस्तदपि चिद्व्यक्तिं विना न सिद्ध्यतीति कथमसत्यत्वं तत्र, यदि च चिद्व्यक्तिस्तत्र नास्ति तर्हि कथमसत्यत्वमित्याशङ्क्याह तस्यापीति।

तस्यापि व्यवहारस्य किं चिदुद्गमात् शिवावाप्तिः शिवरूपतेष्यते अनायासागतास्य शिवतेत्यर्थः। एवं चेत् कथमस्य व्यवहारस्याप्यसत्यतोक्ता, सत्य एवायमेवं सति स्यादित्यर्थः। सत्वं, किं तु व्यवहारतयैवाप्यस्य व्यवहारस्य सत्यत्वं, न तु निबन्धनात् निबन्धनत्वात्प्ररूढत्वादित्यर्थः ॥

विकल्पादेः[1] समुत्पत्तिः सत एव प्रजायते ॥ १३ ॥

नाभाष्य व्यवहारार्थमेवं वास्त्विति निश्चितम् ।

तथैवास्तु शिवावस्था केनासौ विनिवारिता ॥ १४ ॥

न विकल्पादेः[2] स्वतन्त्रात् रजतादिज्ञानाच्च निबद्धत्वेन सत एवार्थस्योत्पत्तिः संपद्यते। किं तर्हि, तथाभाष्य संकेत्य व्यवहारार्थमेवं कूटदीनारैः क्रयोऽस्तु, अद्यारभ्य कालगणनायामयं संवत्सरः संवत्सरारम्भो वास्त्विति। निश्चितं निश्चयः। अथवा एवं वस्त्वपि सत्यमपि कालादीति निश्चितव्यवहारार्थम्। तस्य च तथैवास्तु शिवत्वेनावस्थितिः, केन विनिवारिता चिदुद्गमात् शिवत्वलक्षणयोगात्। विकल्पस्य व्यवहारस्य सत्यत्वासत्यत्वपक्षभेदे प्राक् निमित्तमुक्तं यत्प्रकाशमानस्य सत्यत्वे, सत्यत्वमेव। चिदभेदाख्यातिमयत्वात्सत्यत्वमिति[3] एवं च सर्वत्रैव न विस्मरणीयम् ॥

मिथ्यात्वं[4] क्रियते कस्य किं काले यत्र तद्भवेत् ।

काल एव स न भवेदिति चेन्नैव कुत्रचित् ॥ १५ ॥

---

१ अथेदानीं यतौ न कथंचनापि व्यवहारेण कस्यापि सत्यत्वमस्ति, ततो यथा विकल्पादौ सत एव नोत्पत्तिः। अथ चासतोऽपि प्रकाशबलेन व्यवस्थितत्वासत्त्वमभ्युपेयते तथैव संकेत्यादिव्यवहारार्थमेव कूटदीनारैर्व्यवहारेऽपि प्रकाशबलेन व्यवस्थापितत्वात् सत्त्वं, यथेहैव वस्तुतत्त्वमनपेक्ष्यापि कालादिकलनाव्यवहारस्तत्तत्प्रमातृकल्पितस्तथा यद्यस्ति तथास्तु इत्याह विकल्पादेरिति। २ यथा विकल्पादेः स्वतन्त्राज्ज्ञानाद्रजतादिज्ञानाच्चासतोऽप्यर्थस्य सत्यत्वमेवाभ्युपगतं तथासत्यस्यापि कूटदीनारादिव्यवहारस्य कालादिव्यवहारस्य च स्थितत्वात्कथं न सत्यतेति। ३ चिदभेदाख्यातिमयत्वेन न कथञ्चनापि सत्यत्वमित्यर्थः। ४ तदेवं व्यवहारसत्यत्वेन न कथंचन सम्यक्त्वमिथ्यात्व-

अकाले जननं किंचिद्बाध्यते वा जनिक्रिया ।

कृत्वा कार्यं क्रिया याता गतायां किं प्रबाध्यते ॥ १६ ॥

बाधके च प्रमाणे सति नेदं रजतं नेदं रजतं शुक्तिका,–इति निषेधनिष्ठतया प्रतीतौ[1] मिथ्यात्वं स्यात् । तेन[2] बाधकेन प्रमाणेन मिथ्यात्वं कार्यम् । तत्कस्य क्रियते, तत्र किं यस्मिन् काले तद्रजतता भवेत् । स काल एव न भवतीति मिथ्यात्वमित्यभ्युपगमः । तन्न । नैव हि अकाले कालाभावे कस्यचिज्जननं नाम किंचित्कालरहितायाः क्रियाया अयोगादित्यर्थः । जनिक्रिया वा यदि बाध्यते, तन्न । रजतादिकार्यं कृत्वा क्रिया समाप्ता । तस्या असत्याः को बाधार्थः स्वयमेव तस्या अभावात् । इदानीं[3] च बाधविषयस्याभावात्को बाधः ॥ १६ ॥

अथानुभवगा[4] बाधा नानुभूतोऽन्यथा भवेत् ।

अथेन्द्रियस्य बाध्यत्वं तत्कालं यादृगिन्द्रियम् ॥ १७ ॥

तदान्ध्यं जन्यते केन तस्य कालान्तरस्थितेः ।

सर्वैः समत्वं बाधो वा संबन्धे जननं कथम् ॥ १८ ॥

निश्चयः, किंतु परमार्थसत्यत्वेनैव सर्वो व्यवहारः सम्यक्त्वमिथ्यात्वरूप इति साधयति मिथ्यात्वमित्यादिपूर्णवाक्यार्थसमन्वयः । अत्र वादिन आहुः विकल्पबलादेवैतत्सिद्ध्यतीति न 'तथैवास्तु शिवावस्था केनासौ विनिवारिता' इति । तथाहि समस्तान्तर्बहिर्व्यवहारव्यापकसत्यासत्यप्रविभागनिश्चयनिबन्धनभूतोऽस्ति ह्ययं बाधव्यवहार इति तदेतदनुपपन्नमित्याह मिथ्यात्वमिति । १ प्रतीतौ––रजतज्ञाने । २ तेनेति, अयं भावः––किमिदमुक्तं तथा तथा सम्यङ्मिथ्यात्वाभ्यां चिदभिव्यक्तेः शिवोदयात्सर्वोऽयं चित्प्रसरमय इति । बाधकेन प्रमाणेन मिथ्यात्वस्य मिथ्याकल्पितत्वात्, ततश्च व्यवहारसत्यत्वमेव सत्यत्वमिति न सर्वत्र सर्वथा तथात्वमिति नैतत्सिद्धमित्याह तत्कस्येति । कस्येति सामान्येन निर्दिष्टं विशेषेण विकल्पयति तत्रेत्यादि । ३ शुक्तिकाज्ञाने । ४ तदेदं कार्यभावे बाधदूषणमुक्त्वा कारणत्वेऽपि बाधव्यवहारस्य दूषणमाह अथानुभवेति, तत्रादौ तावत् कार्यकारणयोर्मध्यमवलम्ब्य पृच्छति यदीति । तथाहि विषयापहारो हि बाध इति ते विदुः । सोऽपि न कथंचनाप्युपपन्न इत्याह तन्नेति प्रतिभा-

अथ यदि रजतानुभवगता बाधा इष्यते। तन्न। न हि अनुभूतो विषयोऽननुभूतो युक्तः। अथ रजतद्विचन्द्रादिज्ञानकारणमिन्द्रियम[1]-निन्द्रियमिति बाध्यते। तन्न। न हि बाधकेनेन्द्रियस्यान्ध्यमभावः कर्तुं शक्यं, तद्रजतादिज्ञानकाले यादृगिन्द्रियं तस्य तदानीं घटादीनामुपलब्धेः। अथ कालान्तरे[2] यदा बाधकोत्पत्तिः, तदा तस्यानवस्थानाद्बाधः। तत्कालान्तरस्थितेर्बाधोपगमे तदानीन्तनसम्यग्ज्ञानैरपि मिथ्याज्ञानानां समत्वं नाम बाधः प्राप्नोति। न चैवं युक्तं, वर्तमानकालभाविनां घटादिज्ञानानां सम्यक्त्वेन संभवात्। अथेन्द्रियविषयादीनां संबन्धे बाधः। तन्न। संबन्धबाधे हि कथं ज्ञानजननम्। तस्माद्यावत्संभवं विकल्पने सर्वथा रजतादिप्रतीतौ न किंचिन्निषेद्धुं शक्यते—इति न कश्चिद्बाधार्थः। शुक्तिका[3] रजतं न भवतीति च न बाधः। न हि रजतत्वेन शुक्तिका प्रतिपन्ना इति वा प्रतीतेः, शुक्तिदेशावष्टम्भेन[4] इत्यपि न किंचित् सर्वस्यैव प्रकाश-

---

तत्वेन विषयस्य तस्य परिहर्तुमशक्यत्वादित्यर्थः। नहि बाधकं ज्ञानमित्थमुत्तिष्ठति यत्प्रतिभातं तन्न प्रतिभातमितीति भावः। १ न तावदिन्द्रियमेवंविधबोधविधायि भवितुमर्हति सर्वदा तदुत्पादप्रसङ्गादिति भावः। अत्राहुरन्ये दोषकलुषितमत्रेन्द्रियमिति। तदप्ययुक्तम्। दुष्टं कारणं स्वकार्यकरण एव कुण्ठितशक्ति जातमिति तदेव मा जीजनत्, विपरीतकार्यकरणस्य किं वर्तते, न दुष्टानि शालिबीजानि यवाङ्कुरकरणकौशलमवलम्बेरन् तस्मात्कारणाभावादपि न बाधः। २ कालान्तरे बाधकोत्पत्तिः शुक्तिज्ञानं, शुक्तिज्ञाने सति रजतज्ञानस्यानवस्थितत्वं बाधः तदयुक्तमित्याह तत्कालेति। यदि हि तदानवस्थितत्वमेव बाधः, तर्हि तदानीन्तनानां सम्यग्ज्ञानानामपि शुक्तिकाज्ञानकालेऽनवस्थितत्वात्तेषामपि बाधप्रसङ्ग इत्यर्थः। ३ आचार्यधर्मकीर्तिमतमाह शुक्तिकेति, यथा शुद्धं भूतलं घटाभावः तन्निबन्धनत्वाद्घटाभावव्यवहारस्य, ततः शुद्धभूतलज्ञानमेव यथा घटाभावज्ञानं तथैव शुक्तिकाज्ञानगतयथार्थप्रकाशनलक्षणप्रामाण्यसंवेदनमेव शुक्तिज्ञानस्वसंवेदनानतिरिक्तं यत् प्रकाशेत तदेवोच्यते, शुक्तिविपरीतरजतज्ञानगतायथार्थस्वभावाप्रामाण्यसंवेदनं स एव बाध इत्यर्थः। अत्रोत्तरमाह नहि रजयति। अयं भावः यदि शुक्तिका रजतत्वेन प्रतिपन्नेति तदा भवेत्प्रतीतिरियं तदभावेऽतिप्रसङ्ग इत्यर्थः। ४ अथेदानीं सर्वथा शुक्तिरजतादौ प्रतीत्यनुदयात्तदाधारकल्पनया बाधमाह। अयं भावः—

मानस्य स्वरूपदेशत्वात्। सर्वथा यथा यत् प्रतिभातं, तथैव तत्, नान्यथा कर्तुं शक्यते इति सत्यमेव न किंचिन्मिथ्यात्वम्। एतच्च ईश्वरप्रत्य[1]-भिज्ञानोऽवसेयम्॥ १८॥

व्यवहारस्य बाधा चेद्व्यवहारे यथेष्टता।
क्वचित्सत्यसुवर्णस्य प्रत्यन्ते व्यवहारिता॥ १९॥
कूटकार्षापणादौ वा व्यवहारोऽपि दृश्यते।
तावता व्यवहारो वा यदाह्लादमात्रकम्॥ २०॥
अर्थक्रियासमर्थत्वमेतदेवास्य वास्तवम्।

व्यवहारोऽपि यदि बाध्यते रजतव्यवहारो न कर्तव्य इति। तदपि न व्यवहारस्येष्टस्य प्रवृत्तेः। न तद्वशेन सत्यासत्यविभागः। तथाहि प्रत्यन्तदेशे क्वचित् सत्यसुवर्णस्य तथा व्यवहारो, यादृगयसः। कूटकार्षापणादिना च राज्ञ इष्टत्वात् दृश्यते व्यवहारः। अथवा यदाह्लादमात्रकं, तावतैव व्यवहारः। एतदेव चाह्लादकारित्वमर्थस्य अर्थक्रियाकारित्वे स्वसंवेदनसिद्धत्वेन, भ्रान्तत्वाद्वास्तवस्वप्नजलस्य पानाद्यर्थक्रिया भ्रान्तापि स्यात्, तृण्निवृत्त्या तु तृप्तिः स्वसंवेदनसिद्धा न विसंवदति। सापि चाह्लादिका अर्थक्रिया कूटादेः स्वप्नजलादेर्वा स्यात्, तदपि सत्यं व्यवहार्यं चेति व्यवहारेऽपि न बाधस्थितिः॥

नह्यालम्बनता युक्ता संनिधाननिबन्धना।
तदेवालम्बनं बुद्धेर्यदस्यामवभासते॥
अन्यदालम्बनमन्यद्भातीति भणितिर्न वा॥

इति।

१ तदत्रेत्थं संक्षेपः—
'स्वरूपमेव खल्वेतद्गृह्णात्यात्मानमात्मना।
बहिर्निरूप्यमाणस्य ग्राह्यस्यानुपपत्तितः॥
स्वरूपं सततामासं तेन तेनात्मना बहिः।
तद्वहत्यर्थशून्यं वै लोकयात्रामिहेदृशीम्॥'

इति।

अथ[1] चेद्देशबाधो वा तद्देशे रजतं नहि ।। २१ ।।
यत्र काले सरजतो देशोऽभूत्स गतस्तदा ।
कालान्तरेण देशोऽसौ का बाधा भिन्नकालयोः ।। २२ ।।

अथान्यदेशं रजतमन्यदेशमुपलब्धमिति यदि वा देशबाधः । तन्न । यस्मिन्[2] काले स रजताश्रयो देशोऽभूत्, स कालो बाध्यरजतज्ञानकाले नास्तीति बाधकज्ञानेन बाधः क्रियते । न चैवं रजतदेशयोर्द्वयोर्भिन्नकालत्वात् । तथाहि शुक्तिकारजतकालेऽन्यदेशरजतकालो गतः । ततश्च कालभेदेन देशभेदस्याविरोधात् का बाधा ।। २२ ।।

ज्ञानान्तरेण ज्ञानं तद्विरोधादथ बाध्यते ।
न बाधो भिन्नकालत्वात्प्राक्तनस्याप्यभावतः ।। २३ ।।

अथ तस्मिन्नेव वस्तुनि रजतज्ञानं शुक्तिकाज्ञानं चेति विरोधात् शुक्तिकाज्ञानेन रजतज्ञानस्य बाधो निवृत्तिः क्रियते । तन्न । एकवस्तुनि युगपदन्यथात्वमयुक्तम्[3] । क्रमेण तु क्षीरदध्नोर्न विरोधः प्राक्तनस्य दृष्टस्य स्वरसतो दर्शननिवृत्त्या निवृत्तेः, नाभावतः ।। २३ ।।

सहानवस्थितिर्नास्ति विरोधः प्राग्विनाशतः ।
अन्योन्यपरिहारो वा ज्ञानाज्ञानात्मकः स्थितः ।। २४ ।।

सहानवस्थितिरपि विरोधो नास्ति । न हि ज्ञानं क्षणिकत्वेन प्राग्विनष्टमन्येन निवर्तनीयमुष्णेन शीतमिव विरुद्धं भवति रजत-

---

१ अथेदानीं यतः कार्येण कारणेन च न कथंचन बाधः सिद्ध्यति, ततोऽबाध एव । अयं भावः—तदन्यदेशकालं यद्यप्यस्ति तथापीहासन्निहितस्य सतापि तेन किं विशिष्यते । २ इदमत्र तात्पर्यं—तौ तत्र देशकालौ किं सन्तौ प्रतिभासेते किंतुासन्तौ ? यदि च सन्तावित्यभिमन्यसे तदा तद्देशकालमेवेदं रजतमवभातमिति न भ्रान्तिरेषा स्यात्, असन्तौ तूभावपि रजतवन्नालम्बनं भवितुमर्हत इति ।

३ युगपदन्यथात्वमयुक्तं, नहि शुक्तिज्ञानेन रजतज्ञानं बाध्यते स्वस्मिन्विषये आत्मनि च स्वरूपे द्वयोर्ज्ञानयोर्निष्ठितयोर्विश्रान्तयोरन्योन्यं विरोधस्याभावात् । अथ परस्परपरिहार एव विरुद्धयोर्युगपद्द्वयोः, तर्हि सर्वेषां ज्ञानानां विरोधाद्बाध्यबाधकभावस्य निष्ठैव न लभ्येति सुतरां सत्येतरविभागस्य विलोप आयातः ।

शुक्तिज्ञानयोः। न च अन्योन्यपरिहारात्मको विरोधो ज्ञानाज्ञानात्मको भावाभावयोः[1]… ॥ २४ ॥

अज्ञानत्वे परिज्ञाते तदा स्यात्स्वविरोधिता।
अज्ञानत्वे स्वभावेन विरोधः केन वार्यते ॥ २५ ॥
नेवमत्र स्वभावत्वे विरोधो बाधनात्मकः।
स विवेकदृशा ज्ञेयो न स्वभावेन कुत्रचित् ॥ २६ ॥
तथा सर्वविकल्पानां सत्यरूपत्वदर्शनात्।
गरुडादिशरीरेषु विषभूतापहारतः ॥ २७ ॥
प्रतिष्ठादेवकर्मादिध्यानादिफलयोगतः।
सत्येऽपि न फलं दृष्टं क्वचिदज्ञानिसेवितात् ॥ २८ ॥
तस्मादवस्थितं सर्वं सत्त्वं चिद्व्यक्तियोगिता।
यत्र यत्र तत्र तत्र सत्यत्वं विश्वरूपता ॥ २९ ॥
व्यतिरेके न युज्यते विज्ञानं हि घटादिषु।
मूर्तामूर्तधर्मयोगो घटस्तस्य न गोचरः ॥ ३० ॥
अमूर्ता न च वाणूनामन्तरेव प्रवेशिता।
प्रतिपत्तुः कथं वेत्ति घटोऽयं प्रविभेदतः ॥ ३१ ॥[2]

मूर्तामूर्तादिभिर्धर्मैर्योगो यस्य घटादेः स, तस्य विज्ञानस्य घटात्मनो व्यतिरिक्तः सन् न गोचरो भवितुमर्हति। तदुक्तमीश्वरप्रत्यभिज्ञायां—

'प्रागिवार्थोऽप्रकाशः स्यात्…………(१।५।२)

इत्यादिना। न च वा घटादयः परमाणुरूपत्वे अमूर्ताः। असर्वगतद्रव्यपरिमाणं देशयोग्यता वापि हि मूर्तिः। ततस्तेषामणूनां बोधमयस्य शिवरूपस्य प्रतिपत्तुरन्तरेव प्रवेशित्वमभेद इत्यर्थः। अन्यथा स प्रतिपत्ता प्रविभेदात्कारणात् कथं घटोऽयमिति वेत्ति न कथंचित् जानीयादित्यर्थः ॥ ३१ ॥

---

१ अत्र भावाभावयोरित्यस्माद्याख्यप्रातीकादारभ्य शेषभागस्य व्याख्या त्रुटितास्ति। २ अत्रापि उपरिलिखितश्लोकसप्तकस्य व्याख्यायास्त्रुटिर्वर्तते।

विनैकत्वं[1] च न भवेत्कारकत्वं कदाचन ।
शशशृङ्गादिके नापि स्याद्विभक्त्या समन्वयः ।। ३२ ।।
सर्वथा[2]भावशब्दस्य नास्त्यभावात्मकं क्वचित् ।

घटादेश्च यदेतत्स्वकार्यकरणं भवद्भिरिष्यते, तच्छिदेकरूपत्वं विना न स्यात् । जडस्य निरभिसंधेः करणायोगादित्येतदपि ईश्वरप्रत्यभिज्ञाया-मेवोक्तम् । तस्मात् यदर्थक्रियाकारित्वात्सत्, तत्सर्वं शिवरूपम् । यदप्य-त्यन्तासत्त्वेनाभिमतं[3] शशशृङ्गादि तत्रार्थे वर्तमानस्य सर्वथैवाभाव[4]-वाचित्वेन मतस्य शब्दस्य विभक्त्या योगो न स्यात् । शशशृङ्गं ज्ञायतेऽ-भिधीयते चेति कारकाश्रितत्वाद्विभक्तीनामसतश्च कारकत्वायोगात् क्रियानिमित्तत्वात्कारकस्य । तस्मात् तत्रापि विभक्तियोगेन कारकत्वे सति सत्तैव शिवताख्या । वस्तुतश्च[5] घटोऽर्थक्रियामुदकाहरणादिकां करोति इति योऽयमवबोधः, स एव तथास्वरूपो न तु ततः पृथग्भूतो घटादिस्तथाकारी सिद्ध्यतीति प्रत्यभिज्ञायामेव 'हिमालयो[6] नामास्ति' इति विचारे दर्शितम् । अभावोऽपि ज्ञायमानो बोधात्मैव तदात्मकत्वाच्च विश्वरूप एव । तस्मान्नास्त्यभावात्मकमशिवरूपं क्वचिदपि विश्वमध्ये ।।

---

१ तत्तद्विभिन्नसंवित्स्त्रोतसामेकसंमिश्रीकरणात्मकमेकप्रमातृत्वं विना संविन्निष्ठा विषयव्यवस्थितय इति हि तावदागमेषु भण्यते, तद्भिन्नभिन्न-पदार्थानुस्यूतैकाभासात्मकाक्रमसंविद्विश्रान्तिं बिना न कथंचनाप्युपपद्यते—यदुक्तमीश्वरप्रत्यभिज्ञायां—

'तत्तद्विभिन्नसंवित्तिमुखैरेकप्रमातरि ।
प्रतितिष्ठत्सु भावेषु ज्ञातेयमुपपद्यते ।।
देशकालक्रमजुषामर्थानां स्वसमापिनाम् ।
सकृदाभाससाध्योऽसावन्यथा कः समन्वयः ।।'

इति । २ अभावत्वेन मतस्य । ३ त्रिकालासत्त्वेन । ४ तेनात्र न सर्वथा-भाववत्त्वमित्यर्थः, अपि तु व्यवहारानुपयोग इत्यर्थः । ५ ननु च शशशृङ्गं ज्ञायतेऽभिधीयते इति कथं क्रियायोगोऽत्र प्रातिपदिकमात्रे हि विधिरयम् । नहि कर्मादिकारकयोगोऽत्र संभवतीति, व्यवहारश्च कर्मादिकारकाधीन एवेति कथं क्रियानिमित्तत्वमित्याशङ्क्य व्यवहारे च यद्भावरूपाणां कार-काणां बीजभूतं तत्त्वं तत्समर्थयति येन भावाभावरूपं सर्वं समानमेवाध्य-वसीयत इत्याह वस्तुतश्चेति । ६ अत्र हि क्रियास्वरूपं साध्यमित्यर्थः ।

इतोऽपि[1] सर्वशिवता सत उत्पत्तियोगतः ।। ३३ ।।
स एवास्ते पुरा[2] तादृक्शक्तिरूपस्वरूपकः ।
स[3] एव कार्यरूपेण भगवानवकल्पते ।। ३४ ।।

इतोऽपि हेतोः सर्वशिवता यस्मादुत्पत्तिमद्भावजातं सदेवोत्पद्यते तत्स्वभावस्य कार्यात्मनः प्रागपि विरुद्धासत्तासंस्पर्शायोगात् । तदेव च प्रागपि सदङ्कुररूपं स्यात्, यदि सत्तासतत्त्वोऽङ्कुरः शक्तिरूपः पूर्वमास्ते पुनरङ्कुरात्मककार्यरूपेण भवति ।। ३४ ।।

सत्कार्यं[4] नोपपन्नं चेत्सतः किं करणेन यत् ।
अभिव्यक्तिरथास्यात्र क्रियते सापि किं सती ।। ३५ ।।

---

१ तदेवं परमेश्वरस्य विश्वशक्तिमयत्वेऽपि स्थूलेक्षया सूक्ष्मसमीक्षया महासामान्यनयेन विश्वस्य तन्मयत्वे सिद्धेऽपीति न किंचनाप्यत्र प्रक्षेप्तव्यापकर्षणीयाभावात्तत्साधनस्य प्रयोजनम् । अथ च व्यवहारमात्रं साध्यमित्यानुषङ्गिकप्रयोजने वाद्यन्तरविमतिनिराकरणरूपेण मुख्यप्रयोजने च तत्स्वरूपसत्तात्मकं चिन्निर्वृतिशक्तिद्वयं सर्वाक्षेपकत्वेननाधिकरणसिद्धान्तनीत्या समर्थितमेव । तत्र चिच्छक्तिस्फारोन्मेषस्वभावज्ञानशक्त्या तावदद्वयवादः समर्थितः । अथेदानीं तत्स्वातन्त्र्यस्फारोन्मेषस्वभावक्रियाशक्त्यापि तदद्वयं समर्थयितुं कर्तृकर्मभावोन्मीलनार्थं सत्कार्यवादमाश्रित्य तावदब्रूत इतोऽपीत्यादि । २ ननु यदसत्तदसद्युक्ततेतिनयेनास्तु तावत्सत एवोत्पत्तियोगः । परंत्वियद्वक्तव्यं कथं ते तत्रावस्थिताः, कार्यावस्थायाः प्राक् कर्त्रवस्थायामपीत्यत आह पुरेत्यादि । ३ ननु चास्तु सत एवोत्पत्तिः कारणावस्थायामपि तस्य तादृगवस्थानाभिमननात् । इयत्तु विचिन्त्यं सतोऽप्यसत एवोत्पत्तिरिति । तथाहि यथा घटोत्पत्तौ यावत्स्वरूपेणावतिष्ठते तावन्न कार्योत्पत्तिः । तत्र तु कार्यं सदस्त्वसद्वा नास्त्यत्र विमतिः, मृदादीनां स्वरूपनाशे सति घटोत्पत्तिः संभाव्यते नान्यथा तथा विश्वरूपकार्योत्पत्तौ तस्य विप्रलोप आयात इत्यसत्कार्यवादसिद्धिरन्यथापि सिद्ध्यतीति किमत्र शरणमित्यत आह स एवेत्यादि । अयं भावः—यदि कार्यकारणभावः स्यात्तदा भवेद्भवदुक्तेः संभवः, इह कर्तृकर्मभावः, स तु यथाज्ञाततत्तच्छास्त्रार्थान्तर्गर्भीकृतसमस्तशास्त्रसन्दर्भः बहिर्भावेऽपि स्वरूपेणावतिष्ठते तथेहापीत्यर्थः । ४ अथेदानीं सत्कार्यवादं कर्तृकर्मभावेन सम्यगाकलय्य स्वयूथ्यानां सम्यगवबोधार्थं प्रतिवादिविमतिनिरासकथनपूर्वं प्रतिवाद्याक्षेपेण युक्तिसमर्थनेन

क्रियते ह्यसती वाथ सत्या:[1] किं नोपलब्धता ।

व्यक्त्य[2]भावादथानन्त्यमसत्या[3] हानिसंभवः ।। ३६ ।।

स्वयमेवाश्रिते[4] पक्षे तद्वद्वा वस्त्वसद्भवेत् ।

अथ यदि सद्रूपं कार्यं नोपपन्नं सतः[5] करणं विफलं यस्मात् । अथ[6] सतः स्वरूपं न क्रियते अपि तु तस्याभिव्यक्तिस्तदपि न युक्तं, यतः सापि किं सती क्रियेत अथा सती ? तत्र सती चेदभिव्यक्तिस्तत् किं क्रियते किमिति कार्यस्य नोपलब्धता । अथ सत्त्वेऽपि अभिव्यक्तेरभिव्यक्त्यभावात् कार्यं नोपलब्धम्, तदभिव्यक्तेरपि अभिव्यक्तिः[7] क्रियते इति तत्रापि पूर्वोक्तात्पातादानन्त्यमनवस्था, ततश्च[8] प्रकृतकार्यदर्शनानिर्वृत्तिः । अथासती[9] क्रियतेऽभिव्यक्तिस्तदसत्याः करणे स्वयमाश्रितपक्षहानिप्रसङ्गः[10] । अनवस्थापरिहारार्थं वा अभिव्यक्तावसत्करणाश्रयणेऽभिव्यक्तिवत्[11] वस्त्वपि अङ्कुरादिकमसदेव सत्कार्यमस्तु किमर्धजरतीयेन ।। ३६ ।।

नैवं यस्मात्तां[12] विहाय सर्वत्रान्यत्र सत्क्रिया ।। ३७ ।।

स्वमतं साधयति सत्कार्यमित्यादिना । १ अभिव्यक्त्या: । २ व्यक्तेः सत्या अपि अव्यक्त्यभावादसत्यत्वमिति । ३ अतोऽभिव्यक्तेः पूर्वं सद्वा अस्त्वसद्वा, तत्र न फुटमस्य कार्यत्वं, व्यक्तौ हि कार्यत्वं, तस्यां चासत्यां सत्कार्यवादोऽनुपपन्न इत्यर्थः । ४ यदुक्तं तदभिव्यक्तेरप्यभिव्यक्तिरिति तु न स्वयं त्वभिव्यक्तिः सत्यैवेति । ५ अनुपपन्नतामेव दर्शयति । ६ यतो विफलतादिदोषप्रसङ्गः । ७ इत्यभिव्यक्तिरूपलब्धतां करोति । ८ ननु कार्यसिद्ध्यर्थमस्त्वनवस्था, नेत्याह ततश्चेति ।

'एवमप्यनवस्था स्याद्या मूलक्षतिकारिणी ।'

इत्युक्तम् । ९ कार्यं तु सदेव । १० एकत्र सदन्यत्रासदिति हानिः, सा च न सर्वथा भाव एवेत्यर्थः । ११ ननु च--

'वस्तुनिर्णयशून्याभिर्बोधिताभिः परस्परम् ।
अभिमानैकसाराभिर्जिह्मीमस्तर्कबुद्धिभिः ।।'

इति न्यायाश्रयणेन स्वानुभवदृढप्रमाणरक्षिते सत्कार्यत्वे सिद्धे तर्कदोषमाश्रयतो न कदाचनापि दोधूयमानस्यावलम्बः स्यादिति प्रौढोक्त्याभिव्यक्तावस्त्वसत्कार्यत्वमित्यत आहाभिव्यक्तिवदिति । १२ तामभिव्यक्तिम् ।

इत्यभ्युपगमोऽस्माकं नैकेनान्यत्र[1] तुल्यता ।
कल्प्या[2] वैशेषिकाणां हि कर्तृतैवेश्वरे स्थिता ॥ ३८ ॥

तद्वन्न किं पृथिव्यादेर्बौद्धे[3] ज्ञानमवस्थितम् ।
स्वान्यप्रकाशकं नान्यत्तद्वदन्यत्र किं भवेत् ॥ ३९ ॥

बाह्यं रूपादि जल्पन्ति प्रमाणं चोदनैव ते ।
नियमाद्धर्मविषये तस्मान्नैकेन तुल्यता ॥ ४० ॥

बहूनां कल्पनीयान्न न[4] च वा व्यतिरेकतः ।
व्यक्तिः स्थिता पदार्थानां घटो व्यक्तोऽभिधीयते ॥ ४१ ॥

तस्मात्स एव व्यक्तात्मा न व्यक्तेर्व्यतिरिक्तता ।

त्वदुक्तमेव न युक्तं यस्मात् तामभिव्यक्तिं वर्जयित्वा अन्यत्सदेव कार्यमित्यस्माकं तावदभ्युपगमः । न हि सर्वत्र दर्शने सर्वैरेवार्थैस्तुल्यैर्भाव्यम् । तथाहि वैशेषिकेषु ईश्वर एव विश्वकर्ता, न तु पृथिव्यादि द्रव्यम् । बौद्धदर्शने ज्ञानमेव स्वपरप्रकाशकं, न रूपादि । ते जैमिनीया जल्पन्ति चोदनैव नियमेन धर्मविषये प्रमाणं––

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (मी० १।१।२)

इति, न तु प्रत्यक्षादिकम् । तस्मात् बहूनामेकलक्षणानां प्रमाणानां प्रमेयाणां वा नैकेन भिन्नलक्षणाभिमतेनान्यस्यापि तुल्यतापादनदोष उद्भावनीयः । तेन सर्वेषामर्थानां सतामेव कार्यता । तथाप्यभिव्यक्तिरसत्यैव कार्या, यथा धर्मे न चोदनावदन्यान्यपि प्रमाणानि, यथा न ईश्वरद्रव्यवत् पृथिव्यादिद्रव्यमपि विश्वकारणम् । उपपत्तिरपि च अत्रास्ति, नाभ्युपगममात्रम् । तथाभिव्यक्तिस्तावन्नार्थाद्व्यतिरेकेण स्थिता तथानुपलम्भात् । अभेदेनैव च व्यवहारः । तथा हि घटो व्यक्तोऽभिधीयते व्यक्त्यभेदेन । तस्मात् पदार्थ एव व्यक्तात्मा । स च सन् क्रियते, न तु व्यक्तेर्व्यतिरिक्ताया असत्याः करणम् ॥ ४१ ॥

---

१ एकत्र यदसाधारणं लक्षणं, तदन्यत्र कल्प्यमानमनवस्थादोषदूषितं स्यात् । २ तथात्वेऽतिप्रजङ्गमाह । ३ बुद्धमते । ४ उपपत्तिरप्यत्रास्तीत्याह न चेति ।

दीपेन[1] क्रियते व्यक्तिर्घटादेः सत एव वा ॥ ४२ ॥

यथा सतः क्रिया व्यक्ति[2]र्व्यक्तेः सत्त्वे तथा कृतिः ।

एकेनापरतुल्यत्वान्न च वाऽसत उद्भवः ॥ ४३ ॥

किमाश्रित्य प्रवर्तन्ते तदभावस्वरूपतः ।

नैवैतदपूर्वम् । प्रदीपेन हि घटादेः सत एवाभिव्यक्तिः क्रियते इति पदार्थ एव क्रियते । ततश्च यथा सतो घटादेर्व्यक्तिसंज्ञा क्रिया तथा व्यक्तेरपि पदार्थरूपायाः सत्या एव प्रदीपादिना कृतिः, बीजाविना वा अङ्कुररूपाया इति सर्वत्र तुल्यः सत्कार्यवादः । यतः पदार्थेन सता कार्येण व्यक्तेरपि तदभिन्नायास्तुल्यत्वम् । व्यक्तिश्च प्रकाशमानता प्रकाशात्मता, अङ्कुरादेरनादिनिधनस्य[4] सत एव चित्प्रकाशस्य तेन तेन आत्मना

---

१ तदेवं—

'.........न च वा व्यतिरेकत. ।

व्यक्तिः स्थिता पदार्थानां......... ॥'

इत्युक्तम् । अथेदानीमनयोः सामानाधिकरण्यमेव साधयति दीपेनेति । ननु च यदि सन्नेव, तर्हि तस्याभिव्यक्तिर्नाम किम् । अथाभिव्यक्त्या स्वरूपलाभस्तर्ह्यभिव्यक्तिरेवास्तु, कृतं सत्कार्यवादेनेत्यत आह दीपेनेति । २ तेन नात्र सत्त्वव्यक्त्योर्भिन्नमधिकरणं समानस्वरूपत्वात् । ३ इत्थं युक्त्या सत्कार्यवादं प्रसाध्येदानीमनुभवेनापि स्वमतेन साधयति न च वेत्यादि । ४ ननु च यदि सदेव कारणे कार्यं, तर्हि केयं व्यक्तिर्नामेत्यत आह व्यक्तिश्चेति । यतोऽत्र सर्वतत्त्वभुवनकलापदार्थतत्तदवान्तरभेदानुगतं महासामान्यरूपं यत्तदेवानादिनिधनं शिवत्वं नाम चित्स्वरूपत्वं, तत्र कार्यरूपतयावस्थानं न किंचित् कारणरूपतयैवावस्थानात । परंतु यदा तत्रैव विशेषानुगमेनापरसामान्यमिव कल्पितं रूपं तत्कार्यमित्युच्यते, ततश्च कथं कुत्रासत्कार्यत्वमिति सूक्ष्मोऽयं नय इत्याह अनादिनिधनस्येति, तेन तेनेत्यादि च । अनयोर्वास्तवाभेदमेव कथयितुमीश्वरप्रत्यभिज्ञायामपि—

'या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूपिता ।

अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः ॥' (१।७।१)

इत्युक्तम् ।

अवस्थानमित्यभिव्यक्तिवादिना सत्कार्यवाद उक्तो भवति। यदि[1] चासतः कार्यस्योत्पत्तिस्तदा कारकाणि किमाश्रित्य किमुद्दिश्य प्रवर्तन्ते व्याप्रियन्ते, कार्यकारणभावस्य[2] क्रियाकारकसंबन्धमानत्वेन ईश्वरप्रत्यभिज्ञायां प्रवर्तनं पाकाद्यारम्भे रूपमिव चोदितम्। अथवा[3] किमुद्दिश्य प्रवर्तन्ते कस्मिन्विषये तेषां सामर्थ्यं, विषयाभावे सामर्थ्यस्यानुपपत्तेर्विषयसापेक्षरूपत्वात् तस्य[4], विषयस्य च कार्यस्य तदानीमभावस्वरूपत्वात्[5] ॥ ४३ ॥

घटान्तरं[6] पूर्वदृष्टमाकलय्याथ चेष्टनम् ॥ ४४ ॥
अन्येनान्यस्य कलनासंभवादतिचित्रता।

अथ कारकाणां चेष्टनं व्यापारः सामर्थ्यं वा पूर्वोत्पन्नदृष्टाङ्कुरकलनेन, तदयुक्तं[7] बीजादीनामचेतनत्वेनाकलनाभावात्। यत्रापि सचेतनं

---

१ ननु चास्तु महासामान्यकल्पमनादिनिधनं शिवतत्त्वं नाम तथापि सत्यां मृदि घटो वह्न्याभासे धूमाभास इति यथा तथा बीजे सति अङ्कुरो जायते इत्येवं लोके कार्यकारणभावस्य दृष्टत्वात्कथं चिद्रूपस्य तत्र कारणता येन नासत उत्पत्तिरित्यत आह यदि चेति। २ अयं भावः—यदि च चिदनुसन्धानं विनापीदं पूर्वस्य सामर्थ्यं परस्य सत्तेत्यादि सिद्ध्यति, तदा भवेद्भवदुक्तेरवसरोऽसतः कार्योत्पादे। तत्तु न कथंचनापि स्वात्ममात्रनिष्ठानां परत्र विषयेऽनभिज्ञातमात्रालेशानामनुसन्धानरहितानां जडानामुपपद्यते। एकानुसन्धानविषया ह्ययं सर्वापि कार्यकारणभावव्यवहारसरणिरित्येतत्संक्षिप्याह कार्यकारणभावस्येत्यादि। ३ अर्थान्तरमाह अथवेति। ४ तस्य सामर्थ्यस्य। ५ तदानीं व्यक्तेः प्राक्। ६ ननु किमिदमुच्यते विषयस्य तदानीमसत्त्वात्कस्मिन्विषये तेषां सामर्थ्यमिति। यदि चेयन्मात्रमेवात्र साध्यं यत्पूर्वमपि सापेक्षत्वमिति, तदा सिद्धमेतत्, यतः पूर्वोत्पन्नमप्यङ्कुराद्यस्ति तत्सापेक्षत्वेन सर्वं सिद्ध्यतीत्याशङ्क्याह घटान्तरमित्यादि। ७ इदमत्र तात्पर्यम्—इदं हि वक्तव्यं किं कुम्भकारोऽपि घटकर्ता देहादिरूपः, उतस्वित्तद्व्यतिरिक्तः कश्चन चेतनोऽपि। यदि च देहादिर्जडरूपः, तदत्र वक्तव्यं बीजादिभ्योऽचेतनेभ्यः कोऽस्य विशेषः तेषामपि जडपक्षीकृतत्वादाकलनासंभवात्। अथ तद्व्यतिरिक्तश्चेतनस्तथापि किमित्याह यत्रापि सचेतनमिति, किमायातमिति। नहि तस्य तत्कारणं संपन्नं येन सापेक्षत्वमपि तु अन्तः कुम्भकारसंविदि स्फुरन्नेव बहिर्निर्गच्छतीति।

कुम्भकारादि कारणं, तत्रापि पूर्वं घटान्तरं यदि आकलितं स्यात्तदा कर्तव्यस्य घटान्तरस्य किमायातं येन तत्क्रियते, तदर्थस्य अतिचित्रता अनुपपद्यमानस्यापि भावादित्युपहासः ॥ ४४ ॥

अंकुरो[1] जायत इति न भवेत्कारकात्मता ॥ ४५ ॥
असत्त्वे कारकाणां हि समूहो न भवेत्तदा ।
कर्माख्यस्य ह्यसत्यत्वात्तत्संबन्धोऽसता कथम् ॥ ४६ ॥
तस्मात्स[2] एव भगवान्स्वयमेव प्रकल्पते ।
तथा तथाभावरूपैः सन्नेव परमेश्वरः ॥ ४७ ॥

अङ्कुरो जायते बीजभूमावित्यत्रासतोऽङ्कुरस्य कारणता कर्तृता न स्यात्, घटं वा करोति कुम्भकारः इत्यसता कर्मणा कारकान्तराणां कर्तुर्वा कः संबन्धः, तत्कथं समूहः कारकाणां, ततः क्रिया नोत्पद्येत । तस्माच्चिद्रूपः परमेश्वरस्तथाभावस्वरूपैः स्वयमेव प्रकल्पते भवति । स च नित्यमेव सन्निति कथमसत्कार्यताशङ्का ॥ ४७ ॥

स्वयं[3] च न प्रजायेत केनान्येन प्रजन्यते ।
व्यतिरिक्तेन कर्त्राद्या यदि स्युस्ते तदात्मकाः ॥ ४८ ॥
तत्तस्य जनिता युक्ता व्यतिरिक्तैः कथं भवेत् ।

---

१ अथ च अनेककारकसाध्यं हि कार्यं, ततश्चैकस्याभावेऽपि किं सर्वेऽपि असत्कल्पाः स्युः, तथाहि अङ्कुरो जायते कर्मणोऽभावेऽपि कारणमस्त्येव, तथा घटं करोति कुंभकार इत्यत्र कर्तृकरणकर्माधिकरणाद्यनेककारकसमन्वये कर्माभावमात्रे किं न सिद्धिरमीषामिति पूर्वपक्षमाशये कृत्वा कर्मण एवानेककारकसमन्वयं दर्शयति । कर्मणि सति सर्वमेवैतत्सिद्ध्यति, नान्यथेत्याशयेन कर्तृकर्मणोः सामानाधिकरण्यदर्शनार्थमङ्कुर इत्यादि । २ यतो न कथंचनापि जडस्य कारणता येनासतोऽपि कार्यस्योत्पत्तिः स्यात्तदेतदयत्नसिद्धमित्याह तस्मादिति । ३ असत्त्वाच्च स्वयं यदि न जायते इति यदि भवद्भिः कथ्यते, न हि स्वयमसन् शशशृङ्गादिरन्येन जनयितुं शक्त इत्यर्थसंक्षेपः । ननु चैतदेव कारणस्य कार्याद्वैशिष्ट्यं यदन्यजननं, तदभावे कथं कारणमिति व्यपदिश्यत इत्याशङ्क्याह स्वयं चेत्यादि ।

स्वयं चासत्त्वाद्घटादिः कथं जायेत जननकर्ता[1] कथं स्यात् यदा, तदा केन सामर्थ्येनान्येनापि कुम्भकारादिना कथमसन्[2] जन्मयोग्यता-लक्षणस्वभावरहितं शशशृङ्गादविशिष्टं जन्येत। जनयिता यद्यपि सन् तथापि तत्सत्ता[3] जन्यस्य न काचिद्भवति व्यतिरिक्तत्वात्, ततस्तयापि[4] न तस्य योग्यतापत्तिः। एवं सा[5] जन्मयोग्यतायां व्याप्रियेत यदि तया तस्य जन्मिता युज्येत यदि[6] जनयिता कर्ता सहकारिणश्च करणादिरूपा जन्यात्मकाः स्युः। व्यतिरिक्तैस्तु सद्भिरप्यसतः कथं जन्मिता भवेत् ॥ ४८ ॥

जन्मकाले[7] घटाभावात्संबन्धो नैव कारकैः ॥ ४९ ॥

नासंबद्धस्य करणं सत्कार्याच्चेत्स विद्यते।

सन्नप्यसावसंवेद्यो व्यञ्जकस्याप्यभावतः ॥ ५० ॥

तस्मात्स्वयं स्वभावेन भावैर्भावी भवेद्भवः।

घटस्य जन्यस्य जन्मारम्भकालेऽभावात्कुम्भकारमृत्पिण्डादिभिर्न संबन्धः। न च अविद्यमानसंबन्धस्य करणं पूर्वमपि[8] अन्यतोऽपि वा प्रसङ्गात्। जन्यासंबन्धेऽपि[9] तदपेक्षयैव जनकानामेव स सामर्थ्यस्य विशेषो येन[10] तेषु तस्य विशिष्टस्यैव सत्ता, न तु यस्य कस्यचिदित्येषोऽ-सत्कार्यवादः ईश्वरप्रत्यभिज्ञादौ निराकृतः। अथ स विद्यते संबन्धः सतः[11]

---

१ भवन्मतमेतदित्यर्थः। २ जन्मयोग्यतालक्षणस्वभावरहितं च शशशृङ्गमसदित्युच्यते। ततश्च तस्य न केनापि जननं युक्तम्। तथा यद्यदसत्सर्वं तत्तत् तथैवेति कथं जन्मासतोऽपि संभवेदित्यर्थः। ३ जन-यितृसत्ता। जन्यस्य असत इति शेषः। ४ जनयितृसत्तया, तस्य जन्यस्य, योग्यतापत्तिः सत्त्वयोग्यता। ५ जनयितृसत्ता। ६ युज्येतेत्युक्तं, तामेवोप-पत्तिमाह यदीति। ७ ननु च तदेव विवेच्यं यत्समनन्तरं जन्यकार्योत्पत्तिः। पूर्वं तु कुम्भकारसंविदि बीजे वा परमेश्वरप्रकाशे वा सत्कार्यमस्तु भवता-मस्मन्मते वासत्, न तत्र व्यर्थं ग्रहः। यस्तु जन्मारम्भकालस्तत्र क्रियमाण-त्वादेव सदसत्त्वसंशय इति स एव सम्यग्विवेच्य इत्यपि समर्थयितुमाह जन्मकाल इति। ८ कुम्भकारादिसंबन्धात्प्राक् अन्यतोऽनियतमेव। ९ इदानीं पूर्वं सत एव सर्वक्रियासंबन्धमाह जन्यासंबन्धेऽपीत्यादिना। १० येन— पूर्वसत्त्वेन हेतुना। ११ कुम्भकारादिक्रियया निष्पाद्यत्वात्।

कार्यात्मकत्वात्कार्यस्य। तदपि न, यतः सन्नप्यसौ जन्यो घटादिरर्थोऽसंवेद्योऽसंवेद्यत्वाच्च संबन्धिनोऽप्रख्यत्वेन संबन्धागमनं व्यञ्जकत्वं च कुम्भकारादेर्घटं प्रति नास्ति यतः सर्वथा प्रतीत्यगोचरे वस्तुनि व्यञ्जको न भवति। सिद्ध एवार्थे व्यञ्जको मतो यथा घटादौ दीपः। ततो व्यञ्जकस्यापि अभावतः कथं संबन्धः। एवं हि कारणं कार्यात्मना सत्तदा भवेत् यद्यव्यतिरेकस्तयोः[1] स्यात्। स च प्रत्यक्षविरुद्धः। तस्मादविरुद्धसर्वभावैकभावः स्वयं भव एव परमेश्वरस्तथावस्थानस्वभावेन, नापरेण हेतुना कारणेन भावाभावैः संसारवर्तिभिर्भावी भवत्यभीक्ष्णं तत्स्वभावत्वात्। अथवा[2] नित्यं भावसंबन्धीति शिवकारणतया सत्कार्यवादः॥ ५०॥

इतोऽपि[3] विद्धि सत्कार्यं मृत्पिण्डार्त्कि घटः पृथक्॥ ५१॥
अपृथग्वा पृथक्त्वे तु पटादेः करणं न किम्।
अनुपादानतैव स्यादपृथक्त्वे स एव सः॥ ५२॥

इतोऽपि शिवात्मतया अर्थानां सत्कार्यवादोपपत्तिं जानीहि यतो मृत्पिण्डघटयोः सदासत्कार्यवादेऽपि कार्यकारणतोपपत्तिः। मृत्पिण्डाद्धि घटस्य पृथक्त्वे तथा च असत्त्वे पटशशविषाणयोरप्यसत्त्वाविशेषात्करणं स्यात्। न चास्ति तत्, असत्यर्थे पदबन्धस्यान्यापरिहारेण कार्यत्वेन स्वीकरणस्य कर्तुमशक्यत्वात्, तस्य मृत्पिण्डादेरनुपादानतैव स्यात् प्रकृतिरूपता नैव स्यादित्यर्थः। अपृथक्त्वे मृत्पिण्ड एव स घटः, न तु अपूर्वः। ततः प्रागपि पिण्डो घटः स्यात्॥

नामसंस्थानभेदश्चेद्धस्ते मुष्ट्याद्यभेदिता।
स्थितमेव हि सत्कार्यमत एवाविनाशिता॥ ५३॥
शिवस्य भावनाशेऽपि मौलिनाशेऽपि हेमवत्।

अथ मृत्पिण्डघटयोर्नामसंनिवेशभेदात् भेद एव, तत्कथं सत्कार्यमिति। तन्न, नामसंस्थानमात्र एवात्र भेदः, न तु मृद्रूपतायां यथा हस्ते

१ नहि कुम्भकारघटयोः परस्परमव्यतिरेको येन कुम्भकारमृत्पिण्डयोः संबन्धः सिद्ध्येत्। २ भावीत्यस्यार्थान्तरमाह अथवेति। नित्ययोगे मत्वर्थीय इनिप्रत्ययः। ३ इत्थं कारणभावेन सत्कार्यवादं समर्थ्येदानीं कार्यभावेनापि सत्कार्यवादं समर्थयतीतोऽपीत्यादिना।

मुष्टिप्रसृततादेः। अत्र हि हस्तता तुल्या द्वयोरपि, तथा सद्रूपता अनयोः। एतच्चात्यन्तप्रसिद्धमेतद्व्युत्पादनार्थं प्रदर्शितम्। वस्तुतो मृदपि पर्यालोच्यमानशब्दस्पर्शादितन्मात्रमयी जलादिविलक्षणा यावत्त्रैगुण्यतादवस्थ्यम्, तत्तावदवस्थेऽपि यानि कार्याणि महदादीनि पृथिव्यन्तानि घटाद्यन्तानि वा, तानि त्रैगुण्यमात्ररूपाणि विश्वस्यैकत्वापत्तेः। तदधिकत्वे तु इदं शब्दतन्मात्रमयमाकाशः, इयं पृथिवी, अयं घटः, अयं पट इति विभागः। विभागोऽपि च तदभेदाद्वास्तव एव। न च प्रकाशमानस्यावस्तुता युज्यते त्रैगुण्यस्यापि तथा प्राप्तेः। प्रकाशनं च प्रतीयमानता प्रत्यक्षेणास्तु अनुमानेन वा सर्वथा सद्रूपवत्ता स्यात्। एवं च मृत्पिण्डोऽन्य एव सति यस्मिन् घटो भवति, घटश्चाप्यन्यो, मृदप्यन्या, या सर्वमृण्मयेष्वनुगता, घटश्चाननुगतः। न च अनुगताननुगतयोरैक्यं घटते, ततश्च पटादेः करणं न किमिति दोषः। दर्पणवत् विश्वप्रतिबिम्बयोगि त्रैगुण्यमित्यभ्युपगमेऽपि यद्वशात् तथाप्रतिबिम्बयोगस्तदेव कारणम्, तत्रापि भेदाभेदपर्यालोचनादनुपपत्तिरिति चिन्मयशिवरूपतैव सर्वकार्याणामीश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तन्यायेनेत्याह स्थितमेव हि सत्कार्यमिति। अत एव शिवरूपतया सत्त्वादविनाशिता। न हि शिवस्य स्वसंविद्रूपस्य सतो विनाश इतीश्वरप्रत्यभिज्ञायामेवं चोक्तम्। मौलिनाशेऽपि हेमवदिति सर्वलोकानुसारेण पूर्ववन्निदर्शनम्॥ ५३॥

नाशः कटकरूपेण सद्भावः कुण्डलादिना॥ ५४॥
सुवर्णत्वेऽपि न भ्रंशः संस्थानेऽपि विचार्यताम्।

कटककुण्डलादिलौकिकनिदर्शनेन संस्थानमात्रभेद उक्तः। संस्थानेऽपि भेदो विचार्यताम्॥ ५४॥

तद्विचारेण च शिवकारणतामेव पर्यवसानयन्नाह—

किं शिवत्वेन तद्व्याप्तमव्याप्तं वाभिधीयताम्॥ ५५॥
व्यापित्वे तद्विनाशित्वमव्याप्तौ स्यात्प्रदेशिता।

मौलिशिवत्वव्याप्तौ मौलिविनाशे शिवविनाशः। शिवाव्याप्तत्वे वा शिवस्य प्रदेशवृत्तिता मौलिघटपटादिस्वरूपदेशपरिहारेणावस्थाने भिन्नस्वरूपदेशत्वं ततश्चाविभुत्वमिति संस्थाने उभयथाभिधीयमानो दोषः॥ ५५॥

नैवं यतो हि भावानां विनाशोऽस्मासु नेष्टता ॥ ५६ ॥
अंशाभिव्यक्तिता नाशो न नाशः सर्वलोपिता ।

न उक्तदोषः । यतो भावानां विनाशो विषये नेष्टता अस्मान्प्रति, भावा न विनाशिनोऽस्माभिरिष्यन्ते इति यावत् । अस्मद्दर्शने हि मौलेः कटकोत्पादकाले अंशस्य हेममात्रस्याभिव्यक्तिः प्राक्तनस्य मौलिपरिणामक्षणस्येति नाश उच्यते न तु सर्वांशादर्शनम् । ततो न निरन्वयविनाशदोषः, नाप्यंशस्य निरन्वयता अनभिव्यक्तिमात्रस्य नाशत्वात् ॥ ५६ ॥

अभिव्यक्तेर्विनाशित्वे तत्राप्यानन्त्यमापतेत् ॥ ५७ ॥
इन्द्रियाणामसामर्थ्यमात्रमत्र विनाशिता ।
असावेवानभिव्यक्तिः स प्रच्छन्नस्तदा स्थितः ॥ ५८ ॥

अथ स्थितानामेवार्थानां यथाभिव्यक्तिमात्रस्योत्पादस्तथा विनाशोऽपि तस्यैवेति प्राक्तनांशमात्रस्यानभिव्यक्तिर्विनाश उक्त इति । एतन्न । यतो यथाभिव्यक्तेरप्यसत्या उत्पत्तिरुत सत्या इत्यर्थोत्पादोक्तदोषोऽनवस्था च, तथैवार्थस्य विनाशो नोपपन्नः सतो विनाशायोगात् तथाभिव्यक्तेरपि । अथाभिव्यक्तिरेवाभिव्यक्तेर्विनश्यति, न सत्ता । तत्तस्या अपि अभिव्यक्त्यभिव्यक्तेर्न सत्ता नश्यति, अपि तु अभिव्यक्तिरित्यानन्त्यं स्यात् । अथात्रा अभिव्यक्तेर्विनाशोऽपि किमसन्नुत्पद्यते अथ सन् ? असत्ये सत्कार्यवादहानिरनुपपत्तिश्च । सत्त्वे पूर्वमेव विनाशः स्यात् । अथाभिव्यक्तिर्विनाशस्य कारणेन क्रियते तत्पूर्वोक्ता अनवस्थेत्यानन्त्यम् । एवमस्मद्दर्शन ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तनीत्या यथोभयेन्द्रियवेद्यत्वं शिवाभेदाख्यातिमयमर्थानां करणम्, तथा विनाश उभयेन्द्रियवेद्यत्वाभावः शिवाभेदः शिवत्वेन प्रच्छादनं, तदेवोक्तम् 'इन्द्रियाणामसामर्थ्यं' तथासावेवानभिव्यक्तिः, स घटादिः शिवतया प्रच्छन्नस्तदा स्थित इति ॥ ५८ ॥

इतोऽपि नाशो नास्त्यस्य घटस्य करणात्पुनः ।
नाभावप्राप्तरूपस्य करणं युज्यते पुनः ॥ ५९ ॥
तस्माद्भावविनाशेऽपि शिवतत्त्वाविनाशिता ।

इतोऽपि हेतोर्नाशो नास्त्यस्य घटादेः पुनः करणात् । न हि यस्य सर्वथा शशविषाणतुल्यभावं प्राप्तं रूपं तस्य अर्थस्य पुनः सत्ता भवेत् ।

ननु पूर्वोऽन्य एव घटः शशविषाणतामेव च प्राप्तोऽयं चान्य एव क्रियते। तदेतन्नास्ति। न हि घटादन्यो घटः स्यात् महत्त्वलोहित्वोच्छ्रितत्वादि-सामान्यान्तरसंपर्केऽन्तरवस्थित एव इन्द्रियवेद्योऽभेदाख्यातिमयः क्रियते इति पूर्वमुक्तम्। तस्मादुक्तक्रमेण भावानां शिवतत्त्वनिमज्जनरूपेण तदभेदाख्याति-विनाशेऽपि शिवतत्त्वाविनाशिता। एवमुत्पत्तिविनाशान्यथानुपपत्त्या सर्वशिवता व्यवस्थिता ॥ ५९ ॥

इतश्च सर्वशिवतावयवेभ्यो न कुत्रचित् ॥ ६० ॥
व्यतिरेकोऽवयविनस्तदेवेदं विचार्यताम् ।
भिन्नेष्वैक्यभेदश्च यथा तत्र व्यवस्थितम् ॥ ६१ ॥
तथा तत्र परिज्ञेयं पत्युः सामर्थ्यमीदृशम् ।
अभिन्ने भेदता येन भिन्नेष्वप्यस्त्यभेदता ॥ ६२ ॥
यथावयवगं रूपं तथा सर्वपदार्थगम् ।

इतोऽपि च हेतोः सर्वशिवता। अवयवेभ्यो व्यतिरिक्तोऽवयवी न क्वचित् ज्ञाने चाक्षुषे मानसे वा अवभासते। यैरपि व्यतिरिक्तोऽसौ प्रतिज्ञातस्तैः प्रतीतिः समवायवशादभेदेनैव इष्यते। तच्च इदं विचार्यताम्—यद्यपि विततावभासेऽवयवा भिन्ना व्यवस्थिताः परमाणुमात्रे ह्यभेदिनि वैतत्याभावात्तथाप्येक एव देवदत्तसंज्ञोऽर्थो निःसन्धिबन्ध एकधनोऽवभातीति भिन्नेष्वेवावयवेषु ऐक्यं भाति। तत्र यथैक्यं, तथा पत्युः शिवस्य चिन्मस्य तत्सामर्थ्यमीश्वरप्रत्यभिज्ञायामुक्तं येन सामर्थ्येनाभिन्ने देवदत्तेऽवयवभेदात्मता, अवयवेषु च भिन्नेषु एकैव देवदत्तता युज्यते, यथा अवयवभेदगतमेकं रूपम्। एवं त्रैलोक्यवर्तिष्वपि सर्वेष्वेवार्थेषु गतं शिवरूपम् ॥ ६२ ॥

तदेव व्यनक्ति—

क्व पाणिपादं क्व शिरो यथैक्यं भिन्नदेशगम् ॥ ६३ ॥
तद्वत्सर्वपदार्थानां जगत्यैक्ये स्थितः शिवः ।

अवयवभेदस्यापि अभिन्नावयविरूपता शिवरूपतयैवेति प्रतिपादितमीश्वरप्रत्यभिज्ञायामेवं जगत्यैक्ये शिवरूपतोपपादिका स्थिता ॥ ६३ ॥

शब्दादेर्ग्रहणं नास्ति पूर्वापरसहोदितैः ॥ ६४ ॥
मनसः प्रेरणं कस्मात्प्राग्ज्ञानेन विना स्थिता ।

सर्वकतात एवात्र तथा सौषुप्तबोधनम् ॥ ६५ ॥

घटते कथं निमित्तस्य प्राग्योगायोगचोदितैः ।

योगे जाग्रदवस्थैव तस्मात्सर्वं शिवात्मकम् ॥ ६६ ॥

अत एव चात्र जगति सर्वैकता स्थिता यतः शब्दस्पर्शरूपादेर्विषयस्य सर्वस्य पूर्वापरसहोत्पन्नैर्ज्ञानैर्व्यतिरिक्तत्वाज्ज्ञानं नास्ति। तथाहि पूर्वं तावज्ज्ञानं कथं विषयेण विना स्यात्, पश्चाच्च सहापि द्वयोः स्वात्मनि स्थितयोः कथं ग्राह्यग्राहकभावः, अर्थाभिसन्धिज्ञानेन च विना कस्मादात्मना मनसः प्रेरणं, तद्बाह्यार्थग्रहणार्थमस्ति चेत्पूर्वं ज्ञानं किं मनःप्रेरणेन। न चाभिसन्धिज्ञानेन बाह्योऽर्थो ज्ञातस्तदर्थं मनसः प्रेरणं न स्यात्। तस्माच्चिद्रूपशिवैक्ये सर्वदा संवेदने स्थिते प्रक्रियामात्रमिदं नियतिशक्तिकृतमीश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तमभेदाभिधायिमयं द्रष्टव्यम्। तथा सौषुप्ते स्थितस्य प्रबोधनमुच्चैः शब्दादिसमुच्चारणेन कथं घटेतैकतां विना। तथाहि उच्चैःशब्दादिज्ञानं प्रबोधनिमित्तं तस्य च प्राग्योगोऽथ न योग इति चोद्यैः कथं घटनम्, तथाहि प्राक् शब्दादिज्ञानेन योगे जाग्रदवस्थैव स्यात् तस्यास्तथालक्षणत्वात्, प्राक् शब्दादिज्ञानस्य निमित्तस्य तु विरहे कथं प्रबोधः। तदेतदेव स्याद्विद्यैकत्वे शिवत्वाख्यातिप्रक्रियामात्रमेतत्स्यात्। तीव्रशब्दादिकेनाज्ञानेनाप्यावरणे कृते सौषुप्तविनिवृत्तिरिति च परोक्तं कुतः, प्रमाणात्सिद्धमिति च न निश्चायकम् ॥ ६६ ॥

सामान्यरूपता वास्ति सा चाभिन्ना विशेषतः ।

भिन्नाभिन्नात्मकः क्वापि पदार्थस्तादृगिष्यते ॥ ६७ ॥

सामान्यरूपता वा सर्वेषां शावलेयादीनां विशेषाणामैक्यात्मिकास्ति। सा चाभिन्ना तेभ्यो विशेषेभ्यः। भिन्नाभिन्नात्मको हि पदार्थः सांख्यार्हतादिदर्शने यथा प्रतीयते तादृग्वास्तव इष्यते। स च तत्त्वस्यैक्यं विना न स्यादिति वक्ष्यमाणेन संबन्धः ॥ ६७ ॥

बौद्धस्य चेन्न सामान्यमनुमानं निवर्तते ।

यथा सुवर्णभाण्डेषु न तथा हेमताम्रयोः ॥ ६८ ॥

सुवर्णमानयेत्युक्ते शून्यता किं प्रतीयते ।

विशेषस्पर्शविरहात्कदाचिदपि युज्यते ॥ ६९ ॥

तत्त्वस्यैक्यं विना न स्यादेकस्यैव विरुद्धता ।
सामान्येन विशेषेण कथमेकस्य योगिता ॥ ७० ॥

अथ सामान्यं बौद्धस्य नास्ति, तदनुमानं सामान्यविषयमभीष्टं हीयते। तथा सामान्यं विना यथा सुवर्णमानयेत्युक्ते सौवर्णकटककेयूरादिष्वर्थेषु प्रतीतिर्न तथा हेमताम्रयोः, ताम्रासंस्पर्शेन हेम्न एव प्रतीतेः, कटककेयूरादिषु तु न कस्यचित्परित्यागः। अन्यापोहस्यापि सामान्यत्वेऽभ्युपगते किं सुवर्णमानयेति शून्यता प्रसज्यप्रतिषेधरूपा प्रतीयते विशेषस्पर्शविरहाद्धेतोः, अपि त्वसौवर्णव्यावृत्ताः सुवर्णप्रत्यवमर्शकारिणः त एकतामापाद्यमाना विशेषा एवेति कदाचिदपि युज्यते इति काक्वा व्याख्येयम्। न कदाचिदप्येतद्युज्यते शून्यतापि भातीति। तदेतच्चित्तत्त्वस्य पदार्थेष्वैक्यं विना न स्यादेकस्यैवार्थस्य परस्परविरुद्धत्वात्। अचिद्रूपस्य बाह्यस्यैतन्न घटते, तद्व्यनक्ति सामान्येनेत्यभेदेन, विशेषेणेति भेदेन। चित्तत्त्वस्य पुनः स्वच्छन्दत्वान्न विरोध इत्युक्तं प्रत्यभिज्ञायामेव ॥ ७० ॥

एकतत्त्वं विनैतच्च व्यवहारो न जायते ।
शब्दार्थयोर्न संबन्धो भिन्नयोर्भिन्नदेशयोः ॥ ७० ॥
विरुद्धरूपयोर्भिन्नकरणग्राह्ययोरपि ।
मुखे हि शब्दो भूमौ च विद्यतेऽर्थ क्व संगमः ॥ ७१ ॥
अमूर्त एको मूर्तश्च द्वितीयो योगिता कथम् ।

इतश्चैकत्वं, यत एकचित्त्वात्मतां विना व्यवहारो न जायते। यतः शब्दार्थयोर्योऽयमेकपरामर्शमयो वाच्यवाचकलक्षणः संबन्धः, स कथं चित्तत्त्वे भिन्नदेशत्वे भिन्नमूर्तामूर्तत्वादिस्वभावत्वे भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वे च सति स्यात्, तदेव भिन्नदेशतादि व्यनक्ति मुखे हीति। योगिता संबन्धिता स चैकपरामर्शो भिन्नयोरपि सतोः ॥ ७१ ॥

तथात्मादेरदृष्टस्य तच्छब्दैर्योगिता कथम् ॥ ७२ ॥
असतः शशशृङ्गादेः शशशृङ्गादिनान्वयः ।
घटते जातुचिन्नैवमसतां व्यवहार्यता ॥ ७३ ॥
शब्देन चेत्तदेवं हि सर्वसंसारनाशता ।
असत्यव्यवहारेण तादृगेव जगद्भवेत् ॥ ७४ ॥

अप्रत्यक्षस्यात्मादेः शशशृङ्गादेश्चासतः कथमात्मादिशब्देन शशशृङ्गादिशब्देन च खपुष्पस्यापि खपुष्पशब्देन योजनम्। नैवं दोषः, असतामेव हि शब्देन व्यवहार्यता शब्दानामसद्विषयत्वात् यदि, तदेवं हि सर्वस्य संसारस्य नाशः प्राप्नोति। तद्व्यनक्ति असत्येन शब्दव्यवहारेण नादृशमसत्यमेव जगद्भवेत् जगतश्च प्रतिभासमानशब्द ॥ ❀

तथाभिनवजातस्य तन्नाम्ना संगमः कथम्।
तत्संगमस्यासत्यत्वे यन्त्रवश्यादिकं कथम् ॥ ७५ ॥

तस्मादैक्येन तत्त्वस्य सर्वं तदपि युज्यते।
व्यतिरिक्तेन शब्देन मन्त्रेणानतिरेकिणा ॥ ७६ ॥

कथं न देवदत्तस्य यज्ञदत्तवदाख्यया।
अत्र संकेतितत्वाच्चेत् संकेतेनात्र किं कृतम् ॥ ७७ ॥

संयोगश्चेन्न दूरेषु मूर्तामूर्तेषु युज्यते।
शब्दस्योच्चारितध्वंसान्नष्टानष्टद्वये न च ॥ ७८ ॥

वाच्यवाचकरूपश्चेत्स एष नियमः कुतः।
यत्तस्य वाचकत्वं हि वाच्यत्वमपरस्य तु ॥ ७९ ॥

वाच्यवाचकरूपत्वे वाच्यवाचकतान्वयः।
इतश्चास्ति जगत्यैक्यं प्रत्यक्षाग्रहणादपि ॥ ८० ॥

स्वलक्षणेन योगित्वाद्व्यवहारस्य सर्वतः।
लोके चानुपपत्तेश्च प्रमा च व्यवहारगा ॥ ८१ ॥

बालमूकादिविज्ञानसदृशी कीदृशी क्रिया।
सविकल्पस्य योगित्वाद्यथावस्तु ग्रहः कथम् ॥ ८२ ॥

तेन ज्ञेयमेकमेव वस्तु भिन्ने ग्रहः कुतः।
तथानुमानं न भवेद्धूमाग्न्योरन्वये क्वचित् ॥ ८३ ॥

❀ अतः परं व्याख्या न लभ्यते।

अपूर्वंयोर्गृहीतेऽपि तत्कालं गतयोर्द्वयोः ।
अगृहीते न गृहीतः सम्बन्धोऽग्निः प्रतीयते ।। ८४ ।।

सामान्यमविशेषं चेदविशेषात्कुतः प्रमा ।
विशेषस्याप्यपूर्वत्वे कथं चास्ति समन्वयः ।। ८५ ।।

सादृश्यादथ चेन्नास्ति याथात्म्येन समागमः ।
न च वात्रानुमानत्वं धूमतः केवलाद्भवेत् ।। ८६ ।।

तत्सम्बन्धाद्थोच्येत सम्बन्धे द्विष्ठता न च ।
द्विनिष्टत्वादेकतरग्रहणान्नापि तद्ग्रहः ।। ८७ ।।

धूमदृष्ट्याथ कल्प्येत वह्निस्तद्योगितापि च ।
इतरेतरदोषोऽत्र दुर्निवारः प्रसज्यते ।। ८८ ।।

यावन्न वह्निकलना न योगकलना भवेत् ।
यावद्वा योगकलना न वह्निकलनाक्षमा ।। ८९ ।।

आप्तवाक्यादथास्तीह तत्सत्यत्वेऽदृढा मतिः ।
न राजते ह्ययोवक्ता सत्यभाषी कदाचन ।। ९० ।।

सोऽप्यन्यथा प्रदर्श्येताक्षयतो रागद्वेषयोः ।
पित्रादेरप्यसत्यत्वं तत्रान्यत्र न निश्चयः ।। ९१ ।।

तस्मान्न भेदे भावानां तद्ग्रहाद्यपि युज्यते ।
क्षणभंगपरामर्शादप्येतदुपपद्यते ।। ९२ ।।

शक्ताशक्तविकल्पैर्हि दीपज्वालाद्युदाहृतैः ।
स्थिरता नोपपन्ना ते प्रत्यक्षेणापि च स्थिता ।। ९३ ।।

स्थिरत्वं क्षणिकत्वं च प्रमाणां चिन्तया स्थितम् ।
अप्यसंवादरूपं च विरुद्धं तत्कथं भवेत् ।। ९४ ।।

यावन्न सर्वभावानामेकत्वेन व्यवस्थितिः ।
परेण क्षणभंगस्य परामर्शागमः कुतः ॥ ९५ ॥

ततोऽप्येतच्छिवात्मत्वं भावानामुपपद्यते ।
तथार्थावगतिर्वाक्यात्पदाद्वा नोपपद्यते ॥ ९६ ॥

क्षणिकत्वेन शब्दानामनभिव्यक्तितोऽपि वा ।
स्फोटाभिव्यंग्यपक्षे तु तत्रापि क्रमता कथम् ॥ ९७ ॥

निर्भागत्वात्स्फोटतत्त्वे स्फोटतत्त्वात्मकात्कथम् ।
आभासरूपवस्तूनां शाब्दिकान्नो भवेद्‌ग्रहः ॥ ९८ ॥

तस्मादेवंविधेऽर्थेऽपि युक्तता स्यादिहैक्यतः ।
तथात्मेच्छावशान्नाक्षग्रामे चेष्टोपपद्यते ॥ ९९ ॥

मूर्तचोदकवैकल्यान्मनश्चेत्प्रेरितास्य नो ।
एकत्वे पुनरीदृक् स्यात्सर्वत्रैव हि युक्तता ॥ १०० ॥

न चापि भेदे भावानां ग्रहणं ज्ञानमेव वा ।
संयोगेनोपपद्येत यदि दृष्ट्यादिना भवेत् ॥ १०१ ॥

नैवमक्षार्थसंयोगमात्रात् किं बोद्‌धुरुद्यमः ।
संयोगेऽन्यस्य सञ्जाते कथमन्यस्य बोद्‌धृता ॥ १०२ ॥

मनसोऽभिन्नकालत्वात् स्मृतिज्ञानमथोच्यते ।
प्रारब्धश्चासमाप्तश्च वर्तमानः क्रियामनु ॥ १०३ ॥

प्रक्रियामात्रमेवैतद्यतः पूर्वापरात्मता ।
क्रियायाः कारकाणां हि क्रमोऽस्त्येव स्वकर्मणि ॥ १०४ ॥

यत्र पूर्वापरौ शब्दौ कालैक्यं तत्र युज्यते ।
मनसा नीयते तस्य किं पदार्थस्वरूपता ॥ १०५ ॥

साशक्या मूर्तरूपत्वाद्रूपं चेन्न कथं गुणः।
गुणिनो नीयतेऽन्यत्र तृषार्तैश्चाकृतिं प्रति ?॥ १०६ ॥

अथ ज्ञानं न मनसस्तज्ज्ञानमुपपद्यते।
करणत्वाज्जडत्वाच्च तस्य चेदात्मनात्र किम् ॥ १०७ ॥

करणे ज्ञानसम्बन्धाद्बाह्यार्थे किं न कल्प्यते।
बुद्धेर्गुणत्वं मनसि प्राप्नुयादथ चेतसा॥ १०८ ॥

एवंविधो घटोऽत्रास्ते इत्यात्मा प्रतिबोध्यते।
तदेवं पूर्वदृष्टस्य वर्णनासदृशं भवेत् ॥ १०९ ॥

वर्णनेन च चैतन्यमेतावन्मनसो यदि।
स्वात्मशक्तिसमावेशादमूर्ताविशता कथम् ॥ ११० ॥

तेन वा सम्प्रतीतेऽर्थे क्रियते किं तदात्मना।
तत्स्वरूपात्मसंयोगः संयोगोऽभिन्नदेशयोः ॥ १११ ॥

मनसावेदितार्थस्य तद्देशित्वमथोच्यते।
वर्णिते योगिता कस्य यदि वा तत्स्वरूपतः ॥ ११२ ॥

संस्करोति तदात्मानममूर्तेः संस्कृतिः कथम्।
तद्रूपमात्मन्येतद्येनाश्लेषो यदि चोच्यते ॥ ११३ ॥

चैतन्येनाप्यमूर्तेन मिश्रतान्यस्य कीदृशी।
किं स्वयं तत्प्रमेयत्वमस्य चेदतिरेकतः ॥ ११४ ॥

मनसा किं किमक्षेण तेन चेत्तत्परम्परा।
एवं तदन्धपारम्पर्यत्वरूपमिदं स्फुटम् ॥ ११५ ॥

किमात्मप्रेरणेनात्र ज्ञातेऽज्ञातेऽथवा बहिः।
ज्ञाते तु ज्ञानरूपत्वात् प्रेरणं केन हेतुना ॥ ११६ ॥

अज्ञातेऽमुत्र याहीति प्रेर्यते केन मानसम् ।
प्रेर्यप्रेरणतत्कर्तृद्वयक्याादुपपद्यते ॥ ११७ ॥

तस्माज्ज्ञेयं समग्रैक्यवस्तु शैवं व्यवस्थितम् ।
तथास्मरणयोगाच्च स्मर्यते किं तथाविधम् । ११८ ।

तादृग्दृष्टं दृष्टता स्यादथवा ज्ञानमेव तत् ।
दृष्टस्मरणयोरैक्ये स्थिते तदुपपद्यते ॥ ११९ ॥

तथा सा प्रत्यभिज्ञानात्स एवायमिति स्थितिः ।
युज्यते कथमत्रैव ज्ञानयोः कालभिन्नयोः ॥ १२० ॥

द्वयोरैक्यमनैक्यं वा तदैक्यं भिन्नयोः कथम् ।
अनैक्ये न स एवायमिति स्याद्घटदण्डयोः ॥ १२१ ॥

तस्मादैक्यमिह स्पष्टं संसारे समवस्थितम् ।
एषैव वार्ता संयोगे वस्तुरूपतया स्थिते ॥ १२२ ॥

परस्परेण चाप्यत्र तेषां रूपेण वान्यथा ।
तस्मात् समस्तभावानामैक्येनैवास्ति संगमः ॥ १२३ ॥

शिविकोद्वाहकानां च न्याय एषोऽनुवर्तताम् ।
परचित्तपरिज्ञानात्तस्माज्ज्ञैयैक्यया ततः ॥ १२४ ॥

सार्थसेनावनाद्यात्म जगत्यैक्यं स्फुटं स्थितम् ॥

इति श्रीशिवदृष्टौ अनुपपत्तिचोदनालक्षणं चतुर्थ-
माह्निकं सम्पूर्णम् ॥

अथ

पञ्चममाह्निकम्

अथ चेत् सर्वभावानां न विना तत्त्ववेककम् ।
समन्वयोऽस्ति तदिदं कथमैक्यं विभेदितम् ॥ १ ॥

तदपि सर्वदास्तीह तदर्थमिह वर्ण्यते ।
यथा सर्वेषु भावेषु समतास्त्येकरूपता ॥ २ ॥

न जातुचिद्विभेदित्वं तथा तदुपकर्ण्यताम् ।
चित्त्वात् सर्वपदार्थानां विशेषः केन कथ्यताम् ॥ ३ ॥

विभेदेष्वपि तद्व्याप्त्याभेदेष्वप्येकता स्थिता ।
इच्छावन्तः सर्व एव व्यापकाश्च समस्तकाः ॥ ४ ॥

अमूर्ताश्च तथा सर्वे सर्वे ज्ञानक्रियात्मकाः ।
प्रभवश्च तथा सर्वे इच्छामर्शास्तथाखिलाः ॥ ५ ॥

सर्वे स्वात्मपरिच्छेदवन्तो नित्यमवस्थिताः ।
विकासाह्लादवन्तश्च सर्वे निर्वृतियोगिनः ॥ ६ ॥

घटादीनां समस्तानामिच्छादेरल्पतास्ति चेत् ।
अन्यत्र देहे सर्पादौ दीपादौ नाग्नितात्पके ॥ ७ ॥

स्वल्पतेजसि दार्ढ्याद्वा सर्वत्र शिवतुल्यता ।
भवेदिच्छादिविषये सर्वत्र प्रविसारिणी ॥ ८ ॥

दुःखादिना विशेषश्चेत् तत्राप्यशिवता न च ।
दुःखेऽपि प्रविकासेन दुःखार्थे धृतिसंगमात् ॥ ९ ॥

दृश्यते बन्धनं तेषु धृतिः कीटादिके तथा ।
निर्वृत्या यत्र योगोऽस्ति तत्रैव शिवता स्फुटम् ॥ १० ॥

अथ चेच्चिद्रतामेतद्वक्तुं युक्तं कदाचन ।
पृथिव्यादेर्हि मूर्तस्य घटादेर्वा न युज्यते ॥ ११ ॥

नैवं घटस्य चैतन्यमस्ति ज्ञानात् स्वकर्मणि ।
नाज्ञात्वा कर्तुमिष्येत तथाचिदवबोधनात् ॥ १२ ॥

प्रकाशज्ञानजननाज्जनः कर्ता जडे कथम् ।
जडेन व्यज्यते नापि चैतन्यमजडात्मकम् ॥ १३ ॥

चेतनेच्छावशाद्बाह्यसम्पत्तेरजडः कथम् ।
तिष्ठत्यादिक्रियायां हि कर्तृत्वं न जडे भवेत् ॥ १४ ॥

कर्तृत्वमुपचाराच्चेत् क्रियाया अप्यसत्यता ।
प्रयोज्यत्वमथोच्येत प्रवृत्तं हि प्रवर्तत ॥ १५ ॥

जानन् कर्तारमात्मानं घटः कुर्यात् स्वकां क्रियाम् ।
अज्ञाते स्वात्मकर्तृत्वे न घटः सम्प्रवर्तते ॥ १६ ॥

स्वकर्मणि ममैतत्तदित्यज्ञानान्न चेष्टनम् ।
कूलं पिपतिषति गोर्व्यवहारः प्रसिद्धयति ॥ १७ ॥

घटादेर्भवता ज्ञातमाचैतन्यं कथं यदि ।
चेष्टोन्मेषाद्यभावात्तन्मूर्छिते किं करिष्यसि ॥ १८ ॥

प्राणाद्युन्मेषविरहादभिव्यक्तं नु कस्य तत् ।
सर्वचैतन्यवादे तु चार्वाकोऽत्र न सिद्धयति ॥ १९ ॥

प्रत्येकं परमाणौ चेच्चैतन्येऽनेकचेतनाः ।
घटादयः प्रसज्यन्ते परमाणुकथा न हि ॥ २० ॥

तथा वा शिवतत्त्वस्य सम्भूतेरथवा तथा ।
एकैकशोऽस्ति चैतन्यमनभिव्यक्तरूपकम् ॥ २१ ॥

इतश्च तेऽपि चिद्वन्तः स्वात्मनि ज्ञानयोगतः ।
स्वयमेव न चेज्ज्ञानमात्मन्येषां प्रजायते ॥ २२ ॥

नान्यथा ग्रहणं तेषां देवदत्तेन चेद्भवेत् ।
देवदत्तोऽत्र किं कुर्याच्चक्षुश्चेत् प्रेरयेद्घटे ॥ २३ ॥

गोलकं न प्रयातीह शक्तेरव्यतिरेकतः ।
शक्तिमद्गोगतायां वा तत्रैव यदि वेदनम् ॥ २४ ॥

आत्मनो व्यापकत्वेन शरीरे व्यर्थता भवेत्।
जडत्वादथवा शक्तस्तच्छक्त्या तद्घटो भवेत्॥ २५॥

पुरा शक्तेरानयते चक्षुः शक्तं न वेति वा।
तस्यापि शक्तेः कल्प्यत्वे भवत्यानन्त्यसंगमः॥ २६॥

प्राक्शक्तेरथ सामर्थ्यं शक्तेः शक्तत्वमापतेत्।
मनसो न च बाह्येऽस्ति तस्यापि प्रसरः क्वचित्॥ २७॥

शक्तिर्घटेऽत्र किं कुर्याद् गृहीत्वान्तरथाविशेत्।
बुध्नोदरादिकं तत्तु गृहीत्वा न च युज्यते॥ २८॥

तथाकारणगुणत्वान्न द्रव्याच्च चलनं पृथक्।
शक्तेर्न चापि तज्ज्ञानं येन सा तन्निवेदयेत्॥ २९॥

अन्तर्विशति चेच्छक्तिरन्तरप्युपलम्भनम्।
अप्रवेशान्न मनसः सम्बन्धः उपपद्यते॥ ३०॥

विभुत्वेनेन्द्रियाणां ते किं वृथैव शरीरता।
चक्षुषा चेदर्पितं मे मनसात्मन्यथार्प्यते॥ ३१॥

तदात्मन्यपरोक्षत्वे भवेदाप्तवचः स्फुटम्।
ये विकल्पाः शक्तिगतास्तेऽप्यायान्ति मनः प्रति॥ ३२॥

चक्षूरश्मिगमत्वं चेत् स प्रत्यक्षोऽर्करश्मिवत्।
भावान प्रतिबिम्बत्व आत्मनोऽपि न युक्तता॥ ३३॥

प्रतिबिम्बेऽत्रसत्यत्वादमूर्तत्वेगोचरात्।
तस्माद्घटः स्वमात्मानमवगच्छन्नवस्थितः॥ ३४॥

तदैक्यात्तच्चक्षुषैव प्रक्रिया चेत् कथं स्थिता।
तथा शिवस्य सर्गाद्वा प्रक्रियायास्तथात्मनः॥ ३५॥

अन्धादेरन्यदृष्टचात्र घटः किं प्रथते न चेत्।
शिवत्वस्य तथा व्यक्तेर्घटस्येच्छा तथास्ति वा॥ ३६॥

इच्छावत्त्वमनेनैव न्यायेनास्य निजां क्रियाम्।
अनिच्छुर्न करोत्येवमत एवास्ति निर्वृतिः॥ ३७॥

नानिर्वृतौ प्रवर्तेत स्फुटे ज्ञानक्रिये स्थिते ।
कर्मप्रभवणत्वात्तत्प्रभुत्वमवधार्यते ॥ ३८ ॥

स्वेच्छाकर्मविमर्शेन स्वेच्छाकर्मत्वमादृतम् ।
सर्वं पदार्थरूपेण सामान्येनार्थवत्तया ॥ ३९ ॥

व्यापका व्यपदिश्यन्ते स्वकार्यव्यापनादथ ।
यदि ते न स्वयंग्राह्या गृह्यन्ते नैव चक्षुषा ॥ ४० ॥

बाह्यावयवतद्योगात्तदन्तरवियोगतः ।
पटो गृहीतः सकल इति न स्यात् प्रमा क्वचित् ॥ ४१ ॥

सर्वज्ञत्वमप्रवेशाद्व्यवधानादियोगतः ।
न चान्यावयवत्वेन तदन्येष्वनुमानता ॥ ४२ ॥

न चान्यावयवैः सार्द्धं सम्बन्धग्रहणं पुरा ।
तस्मान्नान्येन गृह्यन्ते प्रत्यक्षेण कदाचन ॥ ४३ ॥

तत्स्थान एव तज्ज्ञाना संविदेषा विमृश्यताम् ।
न चाप्यस्त्यनुमानेन परेषां ग्रहणं क्वचित् ॥ ४४ ॥

धूमात्तत्र गृहीतं किं सामान्यं नैव गृह्यते ।
अग्राह्यत्वात्तस्य तदा विशेषे दूरतैव ते ॥ ४५ ॥

देशोऽपि न गृहीतोऽत्र धूमलेखानुरूपतः ।
न चापि निम्ने ह्रस्वे वा निश्चयोऽत्रावगम्यते ॥ ४६ ॥

अत्रापि क्वापि वास्तीति कल्पना कल्पनैव हि ।
यत्र यत्र भवेद्धूमस्तत्राग्निरित्यनिश्चयात् ॥ ४७ ॥

तत्राकाशे स्थितो धूमो न वह्नेः कणमात्रकम् ।
धूमेन व्यापितो देशो भवेदग्निमयोऽखिलः ॥ ४८ ॥

तद्बुध्नावयवैर्वाथ तेऽपि यान्त्यूर्ध्वतां क्षणात् ।
बुध्नस्तैर्न च सम्बद्धः कदाचिच्चक्षुषो भवेत् ॥ ४९ ॥

सम्बन्धो ग्रहकाले तु न चोर्ध्वावयवैर्भवेत् ।
वह्नेर्दूरतरस्थित्या वह्निश्लिष्टेष्वलक्ष्यता ॥ ५० ॥

न चापि वह्निर्जनकः काष्ठेष्वेव हि दर्शनात् ।
अत एव यत्र वह्निर्भास्वान्नो धूमिताऽत्र तु ॥ ५१ ॥

सन्निधानादथाग्नेश्च चुल्लचादेः सन्निधिर्न किम् ।
धुमेन जन्यते ज्ञानं वह्निरत्रेति ते यदि ॥ ५२ ॥

कुत्र तेऽन्यत्र दृष्टत्वात्तद्दृष्टेरग्निदृष्टता ।
अत्रेति धर्मिता कस्य पर्वतादौ समस्तके ॥ ५३ ॥

तत्सामस्त्यस्याग्रहणाददृष्टे धर्मिता कुतः ।
दृष्टश्चेत् सर्वघटवत्तदङ्गस्याग्निदर्शनम् ॥ ५४ ॥

स्वार्थानुमानं नैवं चेन्न शब्दैरन्तरे स्थितम् ।
अग्निरेषोऽत्र धूमो वा दर्शयेन्न ह्यदर्शने ॥ ५५ ॥

एष इत्यपदिश्येत तज्ज्ञानं जनयेत् कथम् ।
करणत्वे कर्त्रपेक्षा कर्तृत्वे तदपेक्षता ॥ ५६ ॥

वह्नेस्तु तत्रापेक्ष्यत्वे जनकत्वं व्यवस्थितम् ।
यच्च यद्विषयं ज्ञानं तज्जन्यं तस्य दृष्टवत् ॥ ५७ ॥

धूमादग्निप्रतीतिश्च न चायं नियमः स्थितः ।
कक्षभूर्जादिजो वह्निर्गुहाकारे ज्वलन् गृहे ॥ ५८ ॥

महान्तं धूममुत्पाद्य तत्कालं वारिणा हतः ।
तत्र केवलधूमास्था न वह्निप्राप्तिरस्ति ते ॥ ५९ ॥

तस्मात्तद्व्यपदेशो न वह्निः स्वं विनिवेदयेत् ।
वीक्ष्यात्मना तथात्मानं विनीतवदवस्थितम् ॥ ६० ॥

एतयैव दिशा दूष्यं स्वभावाद्यमसंशयम् ।
परानुमाने पक्षादौ धर्मादेर्भेद्यभेदिता ॥ ६१ ॥

अनुमानस्यान्यथान्यैर्दूषणा प्रविधीयते ।
अवस्थादेशकालानामित्यादिभिरुदाहृतैः ॥ ६२ ॥

यत्र देशे च काले च प्रवृत्तिस्तत्र संगमः ।
तत्रैव व्यवहारित्वसम्बन्धान्तरतायतः ॥ ६३ ॥

न चापि स्थिरभावानां क्वाप्यस्ति व्यभिचारिता ।
सूर्यः प्रकाशकः क्वापि काले देशेऽन्यथा भवेत् ॥ ६४ ॥

शब्दैरर्थाः प्रतीयन्ते सर्वत्रैवं क्व निश्चयतः ।
स्फोटादर्थप्रतीतिश्चेद् व्यज्यते तैः क्व निर्णयः ॥ ६५ ॥

तस्यापि सर्वदेश्यत्वान्निश्चयः केन लभ्यते ।
भोजनादेरचेष्टत्वे व्यवहारविलोपिता ॥ ६६ ॥

अनुमानं न चास्तीति पक्षादिर्नोपयुज्यते ।
गोपालघटिकान्यैश्च घटिता न ह्यसम्भवात् ॥ ६७ ॥

न भांडे शक्यते धूमः प्रवेष्टुं वह्निवर्जिते ।
तस्माद्वर्णनिकैवेयं परस्यान्धाय कल्पिता ॥ ६८ ॥

यैरुक्तं सिद्धसाध्यत्वं सामान्ये तन्न दूषणम् ।
अत्रेति तत्प्रयोगत्वाद्दिग्देशाद्यैर्विशेषिता ॥ ६९ ॥

न सर्वेषां विशेषाणां प्रत्यक्षेऽपि भवेद् ग्रहः ।
विशेषपूर्वताध्यक्षेऽविशेषोऽस्त्यनुमानतः ॥ ७० ॥

अतो नास्त्यनुमानस्य दूषणाद्यैः प्रतिभाषितैः ।
तेन पूर्वोक्तया नीत्या भावानां स्वग्रहः स्थितः ॥ ७१ ॥

नाप्याप्तवचनग्राह्यः सामान्याद्वा विशेषतः ।
सामान्यादनुमानोक्तदूषणं तद्विशेषतः ॥ ७२ ॥

प्रत्यक्षत्वं प्रसज्येत तथाप्तत्वेऽप्यनिश्चयात् ।
स्वातन्त्र्यं न च शब्दस्य रचनात्वेन युज्यते ॥ ७३ ॥

तत्रापि व्यञ्जकापेक्षा स्यात् परायत्ततैव हि ।
अर्थापत्त्यादिना नापि तदनर्होपयोगतः ॥ ७४ ॥

प्रतिभा च प्रमाणत्वे वर्ण्यमाना न शोभते ।
काकतालीयरूपत्वादश्वादेस्तरणादथ ॥ ७५ ॥

तदहर्जातकस्यापि वासना सान्यजन्मजा ।
तत्तज्जातीयधर्मो वा तथाज्ञानस्वभावता ॥ ७६ ॥

व्यापकत्वाच्छिवत्वस्य [सर्वज्ञत्वाद्भेदथ ।
तस्मादेतच्च संज्ञेयं सर्वः स्वात्मानमात्मना ॥ ७७ ॥

जानन्नवस्थितो दूरे स्वर्गादौ निरयेऽथवा।
प्रत्यक्षादिप्रक्रियायास्तथा शिवकृतस्थितेः॥ ७८ ॥

नौतरभ्रान्तिनाशादौ सम्यग्दृष्टिसमुद्गमात्।
यमर्सनिकसद्दृष्टिधरादेश्चलनोद्गमात् ॥ ७९ ॥

भूकम्पनाच्च शेषादिचलनाच्चेन्न सर्वतः।
गमागमेन वाय्वादेः कान्या भवति चेतना॥ ८० ॥

सर्वत्र देवतात्मत्वाज्जडेष्वप्युर्वणिता।
पोतादेश्चेदुपायेन दृष्टे दीपाद्युपायता॥ ८१ ॥

तत्र चेत् सुप्रसिद्धत्वे तथा तत्र प्रसिद्धितः।
तुल्यकालं द्वयोर्द्वैधं नैवं यत्तदलक्ष्यता॥ ८२ ॥

तद्देशत्वं पुनः कस्मादिति चेत्तत्तथाग्रतः।
भावा मूर्ताः सर्व एव सूक्ष्मसूक्ष्मतरादिता॥ ८३ ॥

ज्ञेया अवयवेनैते यावद्यावददर्शनाः।
अणूनामथ मूर्तत्वादेवं चेत् किं न दर्शनम्॥ ८४ ॥

सूक्ष्मत्वात्तर्ह्यदृश्यत्वमस्पृश्यत्वममूर्तता ।
तैरदृश्यैर्यदारब्धं तत्तथैवाथ संहतेः॥ ८५ ॥

दृश्यत्वं तेषु संघातात् किं तेषां रूपताक्षतिः।
स्वरूपमिश्रीभावो वा नैवं चेत्तर्ह्यमूर्तता॥ ८६ ॥

ये तत्र पृष्ठतो वृत्तास्ते प्रत्येकममूर्तकाः।
अमूर्तत्वेन भावानां दर्शनं नान्यथा भवेत्॥ ८७ ॥

ज्ञानस्वरूपग्रहाणां तद्ग्रहात्तद्ग्रहः किल।
अतत्स्वरूपरूपत्वे नान्यस्यान्यग्रहाद्ग्रहः॥ ८८ ॥

एवमिन्द्रियशक्तीनां ज्ञानमन्तःप्रवेशनात्।
सामान्या मूर्तता व्याप्ता ह्यमूर्तत्वं तदग्रतः॥ ८९ ॥

कथमाकारघटना व्योम्नि नित्येव नीलता।
आत्मेच्छातः स्थिता भावाः स्थितैवासावमूर्तता॥ ९० ॥

मायीयत्वे जगति वा प्राकृते वान्यथापि वा।
अमूर्तकारणैर्योगात्तन्मूर्तत्वं निवार्यते॥ ९१ ॥

अविद्यायोगतो वापि शाक्तरूपत्वतोऽपि वा ।
ज्ञानस्यापि बहीरूपे शब्दरूपेऽपि वा तथा ॥ ९२ ॥

एतदेव हि युक्तं तु घटादेर्बाह्यमेकतः ।
कुड्यादिनिर्गताच्चैव योगिनां क्वापि दर्शनात् ॥ ९३ ॥

अग्रकव्यप्रधानादेरथ चेत्कार्यनाशिता ।
पदार्थवित्प्रक्रियया प्रक्रिया प्रक्रियैव सा ॥ ९४ ॥

कार्यस्य नाशे तत्कार्यकार्ये तत्कार्यनाशिता ।
क्षणलक्षाणि जायन्ते क्रमात्तत्तद्विनाशतः ॥ ९५ ॥

तथोत्पत्तौ क्षणानन्त्यमीश्वरेच्छावशादथ ।
क्षण एको न चैवं तच्चेश्वरेच्छाविरोधकृत् ॥ ९६ ॥

एकक्षणत्वं लक्ष्यस्य बहुकालस्य नार्हता ।
क्षणभङ्गान्न चैवं हि स निवार्य इहाग्रतः ॥ ९७ ॥

स्वशक्त्या घनरूपत्वे शिव आस्ते क्वचित्तथा ।
स्थितं सर्वममूर्तत्वे सर्वेषां समता स्फुटा ॥ ९८ ॥

सर्वज्ञत्वादशेषस्य तदहर्जातदारके ।
क्षीरादिके निगलनात्तदा कालेऽप्यशिक्षिते ॥ ९९ ॥

उदरस्थस्य च ग्रासग्रहणान्मातुरन्तरे ।
अशिक्षितानां तरणात् प्राणिनां निम्नगाजलात् ॥ १०० ॥

सर्वज्ञत्वे न किं सर्वे सर्वज्ञाः स्युः शरीरिणः ।
सर्व एव हि सर्वज्ञा मनःसंकल्पनावशात् ॥ १०१ ॥

संकल्पकेन चित्तेन तत्तज्ज्ञानमसंशयम् ।
संकल्पानां च सत्यत्वं पुरस्तात्प्रतिपादितम् ॥ १०२ ॥

सर्वभावग्रहणतायोग्यत्वाद्वा क्रमस्थितेः ।
प्रत्यक्षाद्यैरुपायैर्वा निरुपायतयापि वा ॥ १०३ ॥

तत्तद्रूढिवशाद्वापि सर्वज्ञत्वप्रवर्तनात् ।
सर्वे सर्वात्मभावेन सर्वज्ञा वा व्यवस्थिताः ॥ १०४ ॥

सर्वे भावाः स्वमात्मानं जानन्तः सर्वतः स्थिताः ।
मदात्मना घटो वेत्ति वेद्म्यहं वा घटात्मना ॥ १०५ ॥

सदाशिवात्मना वेद्मि स वा वेत्ति मदात्मना।
शिवात्मना यज्ञदत्तो यज्ञदत्तात्मना शिवः॥ १०६॥

सदाशिवात्मना वेत्ति घटः स च घटात्मना।
सर्वे सर्वात्मका भावाः सर्वसर्वस्वरूपतः॥ १०७॥

सर्वस्य सर्वमस्तीह नानाभावात्मरूपकैः।
मद्रूपत्वं घटस्यास्ति ममास्ति घटरूपता॥ १०८॥

नानाभावैः स्वमात्मानं जानन्नास्ते स्वयं शिवः।
चिद्व्यक्तिरूपकं नानाभेदभिन्नमनन्तकम्॥ १०९॥

एवं सर्वेषु भावेषु सर्वसाम्ये व्यवस्थिते।
तेन सर्वगतं सर्वं शिवरूपं निरूपितम्॥ ११०॥

इति श्रीशिवदृष्टौ श्रीमत्सोमानन्दप्रभुपादविरचितायां
समताप्रतिपादकं नाम पञ्चममाह्निकम्।

अथ

षष्ठमाह्निकम्

अथ शक्तेः शक्तिमतो न भेदो द्रव्यकर्मवत् ।
स्थापितो द्रव्यतो भिन्ना क्रिया नो न च नास्ति सा ॥ १ ॥

एवं तथा शक्तिमतः शक्तस्य समवस्थिता ।
जगद्विचित्रता शैवे न पुनर्दर्शतान्तरे ॥ २ ॥

यथा प्रकल्पिता चित्रा चित्रब्रह्मादिवादिता ।
नानात्मवादितां यावत्तत्सर्वं प्रविचार्यताम् ॥ ३ ॥

यत्र ब्रह्मोच्यते चित्रं कैश्चिद्वेदान्तवादिभिः ।
एकस्य चित्रता केन हेतुना ब्रह्मणो भवेत् ॥ ४ ॥

तथाविधा विभिन्नास्ते सर्वदा निजभावतः ।
विभिन्ना एव ते नैक्यं मृत्पिडात् प्रागवस्थितेः ॥ ५ ॥

घटादीनां द्विरूपत्वं न घटादेः सदास्थितेः ।
निमित्तकल्पना कल्प्या तर्ह्यविद्या तदुद्गमात् ॥ ६ ॥

भावा भवेयुस्तत्प्राप्ता ह्यस्माकं सर्वसत्यता ।
अविद्यादेरयोगश्चेत्तेनैतदतिरिक्तता ॥ ७ ॥

येऽन्ये वेदान्तविद्वांस आत्मब्रह्मैव विश्वताम् ।
यात्युपादानरूपत्वात्तथान्ये भ्रान्तिरूपताम् ॥ ८ ॥

विश्वं न सत्यरूपत्वं तथान्ये त्वात्मवादिनः ।
भिन्नजीवपरात्मत्वं ये चान्ये नेतिवादिनः ॥ ९ ॥

यस्यां प्रतीतौ नेत्यस्य प्रसरो न प्रवर्तते ।
तद्ब्रह्मेति वदन्त्येके ये स्फुलिंगात्मवादिनः ॥ १० ॥

प्रतिबिम्बतया चान्ये ये वा सर्गमुखे स्वयम् ।
ब्रह्मैव गृह्णात्यात्मानं ततो भेदोपपादनम् ॥ ११ ॥

इत्याहुर्येऽपि क्रीडार्थमेवमात्मा व्यवस्थितः ।
इत्यूचुर्येऽप्रबुद्धत्वं पश्चाद्ब्रह्म प्रबध्यते ॥ १२ ॥

देहे देहे पृथक्त्वे तु तथा भेदो भवात्मकः।
जलधारांशुमन्न्यायो येषां वा समवस्थितः॥ १३॥

अविद्यां वेत्त्यविद्यैव बन्धात्यात्मानमेव वा।
सैवेति वादो येषां वा तेषां वेदान्तवादिनाम्॥ १४॥

सर्वेषामप्यविद्यैव कल्प्या ब्रह्मणि संगता।
तथा भावेष्वसत्यत्वमित्यवश्यमवस्थितम्॥ १५॥

पाञ्चरात्रविदश्चान्ये वदन्ति परिनिष्ठितम्।
ब्रह्मास्ति वासुदेवाख्यं स एव जगदीश्वरः॥ १६॥

विद्याविद्ये द्वयं चास्य साधनं समवस्थितम्।
अविद्यया जगत्कुर्याद्विद्यया मोक्षयेत्पशून्॥ १७॥

ताभ्यां न चास्योपरागः प्रबुद्धत्वात्प्रभुत्वतः।
तथान्येषां स्वात्मनैव विद्यया जगदात्मता॥ १८॥

न चाविद्या बाधिकास्य यतः साधनमस्य सा।
प्रोक्तं भगवतो वीर्येणेत्याद्यैस्तत्त्वदर्शनैः॥ १९॥

गीतासु विश्वरूपत्वमत एव प्रदर्शितम्।
द्वयोरप्यनयोर्युक्तिः पक्षयोर्नोपपद्यते॥ २०॥

अविद्या वस्तुरूपा चेद्विद्यया साकमेकता।
अवस्तु वा न ह्यसत्यं सत्यरूपस्य साधनम्॥ २१॥

तथा जघन्यरूपायाः सम्बन्धोऽस्य विरुध्यते।
तथा जगत्समुत्पत्तौ निमित्तान्तरकल्पना॥ २२॥

अविद्यादेर्निमित्तत्वे वेदान्तैः साम्यमागतम्।
पक्षे द्वितीये ताद्रूप्यं जडत्वादिह तस्य कः॥ २३॥

करोति विद्यासंयोगं तद्ध्यन्येश्वरकल्पना।
आर्हतास्तु जिनो देवो जीवाः सन्ति पृथक् पृथक्॥ २४॥

प्रतिदेहं न विभवः ते प्रबुद्धास्तु तन्मयाः।
इत्येवमाहुस्तेषामप्यविद्यायोगकल्पनम्॥ २५॥

स्वाविद्याप्रक्षयादर्हन्देवो भवति निश्चितम्।
येषां देवो निराकारः शून्य एव किमुच्यते॥ २६॥

परिग्रहर स. 2333

ये सांख्या आत्मस्वातन्त्र्यवादिनो येऽप्यनीश्वराः ।
तत्राप्यस्त्यविवेकाख्यो मलो बन्धविमोक्षता ॥ २७ ॥

पृथक्त्वमीश्वरस्यास्ति सर्वात्मभ्यः पृथक्कृतः ।
न्यायवैशेषिकाणां तु बन्धमोक्षौ पृथक्स्थिती ॥ २८ ॥

प्रकृत्यादीश्वरत्वेन सर्वदैव तदात्मता ।
संवित्तिशून्यब्रह्मत्ववादिनां जडतैव सा ॥ २९ ॥

वदन्ति ते हि सकलमेतन्नारदसंग्रहात् ।
कालकारणिकानां तु नामता जडताथ वा ॥ ३० ॥

अव्याप्तिरन्तः कृत्यादेर्भवेत्षड्धामवादिनाम् ।
तत्र चित्पक्षपातश्चेत् प्राप्नुयात् सततं ग्रहः ॥ ३१ ॥

स्वर्गमुक्तिवादिनां तु बन्धमोक्षौ व्यवस्थितौ ।
ये बाह्यवादिनो बौद्धास्ते भेदं समुपाश्रिताः ॥ ३२ ॥

विज्ञानवादिनां ज्ञानं सत्यं प्रत्येत्यसत्यताम् ।
बहिः कथं न ह्यसत्यं सत्याद्भवितुमर्हति ॥ ३३ ॥

कामिनां कथमेतच्चेदुक्ता प्रागस्य सत्यता ।
ज्ञानस्य करणत्वेन कर्त्रपेक्षा प्रसज्यते ॥ ३४ ॥

कर्तृत्वे ज्ञप्तिमात्रत्वे आकांक्षा करणे भवेत् ।
द्विरूपत्वे विरुद्धत्वसंक्रमत्वं प्रवर्तते ॥ ३५ ॥

अक्रमत्वेऽस्मन्मतत्वं तदैक्यं परिनिष्ठया ।
न चापि क्षणभंगित्वे युक्ता वैनाशिकी स्थितिः ॥ ३६ ॥

अहं वेद्मि स मां वेत्ति न कर्तृकरणादिता ।
ज्ञानस्यैकक्षणे युक्ता तदद्वित्वेन क्षणक्षयः ॥ ३७ ॥

विभागकालग्रहणकालयोर्भिन्नकालता ।
विनष्टत्वात् फलं कस्य क्रमात्कर्मफले यतः ॥ ३८ ॥

भेदवानिति लक्ष्यत्वे दृष्टान्तोऽस्ति न तादृशः ।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तेर्भेदवानिव लक्ष्यते ॥ ३९ ॥

न च शुद्धस्य बाह्यार्थाभासता चेदविद्यया ।
वासनारूपया शुद्धे नाशुद्धा वासना भवेत् ॥ ४० ॥

नेत्रादिव्यापृतेः पूर्वं घटं पश्यामि तादृशी ।
जायते प्रथमैवेच्छा नामाजातस्य यादृशी ॥ ४१ ॥

ज्ञानात्पूर्वमिच्छाजाते ज्ञातृकल्पनमुज्ज्वलम् ।
न घटो निर्विशेषोऽस्ति ग्रहे यज्ज्ञातृशुद्धता ॥ ४२ ॥

उत्पत्तिकाले स्वात्मानं किमादौ वेत्ति वा बहिः ।
प्रतिभासस्य वैचित्र्याद्युगपद्ग्रहणं कथम् ॥ ४३ ॥

क्रमेण वा परिच्छेदे क्षणान्तरमवस्थितिः ।
दृष्ट्वा तां संपरिच्छेदे क्षणद्वैधमथोच्यते ॥ ४४ ॥

उत्पद्यमाने विज्ञाने नार्थनिष्पन्नता मता ।
न चार्थजातेऽवस्तुत्वं नावस्तुग्रहणादरः ॥ ४५ ॥

प्रकाशमप्रकाशं वा ज्ञानं तस्य प्रकाशते ।
विद्यारूपादनाशित्वं न हि तत्त्वं विनश्वरम् ॥ ४६ ॥

अथ दीपप्रकाशत्वे न नित्यत्वं न कर्तृता ।
कर्तृता तत्र दीपादेः करणत्वं तदीक्षणे ॥ ४७ ॥

प्रकाशतात्मन्यचले स च प्रोक्तोऽप्यनश्वरः ।
ज्ञानस्य करणत्वेन भवेच्चेदनवस्थितिः ॥ ४८ ॥

दीपचक्षुःक्रमफलदर्शनात्तदबाधकम् ।
भावे कथं विनाशित्वं स्याद्विना कारणान्तरम् ॥ ४९ ॥

अथ नश्वररूपत्वात्तद्रूपस्योद्भवः कथम् ।
उद्भवो नश्वरत्वं च द्वौ स्वभावौ कथं तथा ॥ ५० ॥

न च नश्यदवस्थायां स्वकार्यं तस्य युज्यते ।
कृत्वा कार्यं विनश्येच्चेत् क्षणान्तरमवस्थितिः ॥ ५१ ॥

कुर्वद्वा चार्थकार्यत्वं कुतो नश्वररूपता ।
कारणान्तरजन्यत्वे कारणान्तरसंगता ॥ ५२ ॥

भावस्य भावजनने युक्तत्वं न क्षणस्थितेः ।
न घटाद्घटसम्भूतिः समवायाद्यपेक्षया ॥ ५३ ॥

नष्टस्य समवायित्वमनष्टस्य घटस्य वा ।
नष्टस्य तदकर्तृत्वमनष्टस्य स्वरूपिता ॥ ५४ ॥

यत्सत्तत् क्षणिकत्वेऽपि सत्त्वमप्यक्षगोचरम् ।
सादृश्याद्भ्रान्तमक्षं चेददुष्टं प्राग्ग्रहे यथा ॥ ५५ ॥

दृष्टान्तेऽपि हि सादृश्ये प्रत्यक्षेण क्षणग्रहः ।
दीपज्वालासमूहेषु कम्पनं न विनाशिता ॥ ५६ ॥

नापि क्रमयौगपद्यविकल्पाः सहकारिणाम् ।
सन्निधौ कृतशक्तित्वादनेकेषां तथास्थितेः ॥ ५७ ॥

भावानां चित्रशक्तीनामभेदो हेमभेदवत् ।
वैलक्षण्यमपूर्वत्वं बाह्याभासक्रियोद्गमात् ॥ ५८ ॥

अर्थक्रियासमर्थत्वे वस्तुता शुक्तिकादिके ।
तत्र स्थितावस्तुता चेन्नोक्तत्वादेषु वस्तुता ॥ ५९ ॥

घटो नश्यत्यात्मनेति किंचित्कुर्वन् किमात्मना ।
नश्यत्यात्मन्यकुर्वन् वा तदेवं स्थित एव सः ॥ ६० ॥

कुर्वन् वा किं तदा कुर्वन् न भावं तद्घटादिकात् ।
अनन्यं व्यतिरिक्तं वा यद्यर्थनन्यस्तथाविधः ॥ ६१ ॥

अन्यत्वेऽन्यसमुत्पत्तौ घटस्यायातमत्र किम् ।
आत्मना परतो वापि विनाशेऽत्रापि तादृशाः ॥ ६२ ॥

विकल्पा अथवा नश्येदसावेतावदेव सत् ।
तत्रापि किंचित्कुर्वन्किं स नश्यति तथात्रिधाः ॥ ६३ ॥

विकल्पाः पुनरायान्ति न चाभावक्रियां प्रति ।
घट एव करणत्वे सामग्री जनिकेति ते ॥ ६४ ॥

दर्शनं यद्यभावस्य तुच्छस्य करणं कथम् ।
बहुभिस्तर्हि तुच्छं हि घटोऽपि जनयेत्कथम् ॥ ६५ ॥

नाशं घटस्य जनयेत्तत्सम्बन्धितया स्थितम् ।
मृत्पिण्डस्य घटोत्पत्तौ सति तज्जननात्मके ॥ ६६ ॥

रूपे हेत्वन्तरापेक्षा यत्र तत्र तथा कृता ।
घटस्य नश्वरात्मत्वे मुद्गरादेरपेक्षणम् ॥ ६७ ॥

किं वा नाश्यं न मृत्पिण्डं घटस्य जनकं भवेत् ।
तदनाशे न किंचित्स्याद्घट एव न जायते ॥ ६८ ॥

विनाशे कारणानां हि विनाशः कारणात्मना ।
स्वयं विनश्येन्मृत्पिण्ड एवं चेत्स विनश्यति ॥ ६९ ॥

किं विधाय घटं नो वा स मृत्पिण्डोऽभिधीयताम् ।
अकृत्वा करणं कुम्भे कृत्वा तस्य स्वरूपता ॥ ७० ॥

कुतो घटस्य जननाकारनामावधारणम् ।
यावता प्राग्दशानष्टा न प्रवृत्तिरथान्यथा ॥ ७१ ॥

विरोधे दण्डघटयोर्दृष्टान्तोऽस्ति न ते क्वचित् ।
तेजसा तमसो यस्मान्न विनाशस्त्वयेष्यते ॥ ७२ ॥

अकार्यत्वाद्विनाशस्य प्रतिबन्धो न चापि ते ।
स्थिरस्य प्रतिबन्ध्यत्वात् क्षणिकस्य न युज्यते ॥ ७३ ॥

कपालादिकजन्यत्वमभावस्तस्य संगता ।
सत्यस्य कारणापेक्षा घटादिजनने यथा ॥ ७४ ॥

नश्वरानश्वरत्वेऽपि स्वभावे प्रविकल्पनाः ।
अत्र नैव प्रवर्तन्ते हेतुसन्निधिनश्वराः ॥ ७५ ॥

स्वभावत्वात्स्थितं तस्मादेकं तत्त्वं तथास्थितेः ।
भेदेन वाप्यभेदेन यदि वा नैकरूपता ॥ ७६ ॥

सामान्याभावतस्तर्हि भवतो नानुमानता ।
सा भविष्यत्यपोहेन सोऽपि केनोपपद्यते ॥ ७७ ॥

घटमानय शब्दस्य प्रतिषेधेन वाच्यता ।
अघटादेरपोहेन किं घटं प्रतिपद्यसे ॥ ७८ ॥

शून्यतां वा शून्यतायां व्यर्थता शब्दगोचरे ।
युगपद्वा घटाद्यर्था जगत्यानन्त्यमागताः ॥ ७९ ॥

निवृत्ते वाच्यसम्बन्धे प्रद्वेषो विधिगः परम् ।
अघटत्वं न सामान्यं किं न वा ह्यविशेषकम् ॥ ८० ॥

तस्याप्यवस्तुरूपत्वे न किंचित्कथितं भवेत् ।
एतावान् वाच्यसम्बन्धो यदन्तःस्फुरणात्मता ॥ ८१ ॥

उपलब्धिः पुनर्ज्ञेया प्रमाणान्तरगोचरा ।
धूमात्सम्बन्धतो वह्नेः परोक्षे स्फुरणं न किम् ॥ ८२ ॥

अप्रत्यक्षोऽक्षसम्बन्धो दूरस्थः शक्तिरूह्यते ।
तस्मान्न ज्ञानशून्यत्वं न शून्यं चोपपद्यते ॥ ८३ ॥

शून्यस्य बोधाभावत्वात् कः केनात्र विबोध्यते ।
न हि शून्यस्य शून्येन बोधनं न च बाधनम् ॥ ८४ ॥

शून्यत्वे सति युज्येत प्रमाणं वोपपद्यते ।
संवृत्यैव संवृर्तिर्हि निवार्या चेदसंगमः ॥ ८५ ॥

शून्यत्वे सति तस्याः स्यात्तस्माद्बौद्धमयुक्तिमत् ।
अन्यत्र युज्यतेऽपोहः शब्दार्थानामसंगमात् ॥ ८६ ॥

सर्वस्य सर्वभावत्वादिहासौ नोपपद्यते ।
चर्मोपमश्चेदित्यादि यद्बौद्धैः समुदाहृतम् ॥ ८७ ॥

सर्वत्र सर्वसंवित्तेस्तत्सर्वं विनिवारितम् ।
विकल्पा येऽपि चार्वाकैरुक्तास्तेऽपि न बाधकाः ॥ ८८ ॥

सर्वत्र सारभूतत्वात्सर्वत्रैवाजडत्वतः ।
सर्वभावस्वभावत्वादभावस्यापि भावतः ॥ ८९ ॥

घटात्मककटात्मादेः पदार्थपदयोगतः ।
अभावस्य कपालादिरूपत्वाद्वस्तुता स्थिता ॥ ९० ॥

अभावस्यापि वस्तुत्वे न विनाशोऽस्ति कस्यचित् ।
अभावस्यापि करणे सम्पत्तिर्नोपपद्यते ॥ ९१ ॥

कुण्डलादिषु भावेषु सर्वथैव सुवर्णता ।
व्याप्तेरखण्डितैवास्ते शिवता सर्वगामिनी ॥ ९२ ॥

सर्वज्ञानातिरेकत्वे स्थिते वक्ष्यसि किं स्वके ।
दर्शने यत्र नानात्वं बन्धमोक्षावुदाहृतौ ॥ ९३ ॥

मलित्वमात्मनां प्रोक्तं सर्वभावेषु भेदिता ।
सत्यमुक्तमारुरुक्षोस्तत्क्रमप्रतिपत्तये ॥ ९४ ॥

अन्यथा ह्येकरूपत्वे विचिकित्सा प्रवर्तते ।
विना बोधं प्राथमिके निर्यत्नश्च भवेदसौ ॥ ९५ ॥

बन्धमोक्षाद्यभावेन निर्मलोऽत्र करोति किम् ।
न च वा प्रत्ययं गच्छेत् झटित्येकोक्तिमात्रतः ॥ ९६ ॥

तदर्थमुक्तमीशेन न परार्थविवक्षया।
अनेकेषामणूनां च कथमेकत्र संस्थितिः ॥ ९७ ॥

अमूर्तत्वाद्यदि भवेदमूर्तत्वेऽपि वस्तुता।
वस्तुत्वे संस्करोत्येव नानासत्तानयोगतः ॥ ९८ ॥

व्याप्यः स देश एकेन व्याप्यतेऽप्यपरैः कथम्।
परस्परेण व्याप्यत्वाद्व्याप्यव्यापकता भवेत् ॥ ९९ ॥

वर्तते यदि तत्रान्यो न व्याप्तोऽसौ पुरापरैः।
आकाशबुद्धिचित्तादेः कथमेकत्र चेत् स्थितिः ॥ १०० ॥

दोषोऽयं भवतामेव नैवमस्मासु तादृशः।
सर्वस्य सर्वदेहेषु व्यापकत्वव्यवस्थितेः ॥ १०१ ॥

सर्वेषां सर्वदेहस्था संवित्केन निवार्यते।
कर्मणामानुरूप्याच्चेत् संविद्बाधा न कर्मभिः ॥ १०२ ॥

अकर्महेतुकेऽप्यस्ति योगिनोऽन्यशरीरके।
न शवत्वं शरीरे स्यादन्यात्मस्फुरणस्थितेः ॥ १०३ ॥

तत्र कर्म निमित्तं चेद्योगेनाप्यत्र संक्रमः।
एकबोधो बोधशतैरभिभूतो भवेत्तदा ॥ १०४ ॥

तद्बाधे न परव्याप्तिर्न वा व्याप्तेस्तदात्मता।
मोक्षेऽपि शिवबाहुल्यान्नानानायकता भवेत् ॥ १०५ ॥

तस्याधिकमहेशित्वे मोक्षे न्यूनाधिके स्थितिः।
बहूनां नायकत्वेऽपि नायकत्वं विहन्यते ॥ १०६ ॥

तथा पञ्चविधे कृत्ये नानात्वादक्रिया भवेत्।
यानन्यसदृशी भूमिः सा परा प्रान्तभूमिका ॥ १०७ ॥

या पुनः सर्वसदृशी सानुसार्या किमुच्यते।
सर्वज्ञत्वेन सर्वेषामेककार्यानुवर्तनात् ॥ १०८ ॥

संसारस्यानुपाल्यत्वाद्द्वेषादिमलहानितः।
अथवा स्वात्मविभवपरमानन्दतृप्तितः ॥ १०९ ॥

तन्निष्ठत्वात् पञ्चविधकृत्यस्योन्मुखतैव नो।
भवेन्मुक्तात्मभेदेऽपि सा त्वनादौ शिवे स्थिता ॥ ११० ॥

अनुवृत्तिः किमाधिक्याद्रागाद् वा तर्हि दूषणम् ।
अनादिशिवतत्त्वस्य स्वामोदं किं न विद्यते ॥ १११ ॥

तदप्यस्ति कर्तृता चेत्तेषां तत्तादृशं न किम् ।
अथ राज्ञो यथा राज्यकर्म विदधतः सुखम् ॥ ११२ ॥

निजं तस्य न हीयेत तद्वत् परमकारणे ।
यदि तर्हि मोक्षेऽपि विशेषः किं निवार्यते ॥ ११३ ॥

तथा तस्य यथान्येषां यथान्येषां तथास्य तु ।
तस्मादनेकात्मतया दोषा आयान्ति तादृशाः ॥ ११४ ॥

तस्मादेकशिवत्वेऽत्र स्थिते नैकस्य बन्धता ।
मोक्षता चोपपद्येत निर्मलं समलं तथा ॥ ११५ ॥

रूपद्वयं युक्तिमत्स्याज्जन्मादेर्युगपन्न च ।
सम्भवः स्यात्तथारूपशिवत्वादन्यदर्शने ॥ ११६ ॥

दूषणं संप्रसज्येत न तथेह कदाचन ।
एकत्वे बन्धताद्यस्ति द्विषः कादिषु ते यथा ? ॥ ११७ ॥

एकस्यैवात्मनो यद्वदङ्गभेदो विचित्रता ।
युगपद्बन्धपीडादिस्तद्वन्नानाशरीरता ॥ ११८ ॥

स्थितेऽपि वात्र नानात्वे कैवल्ये न विशेषता ।
एकोऽपि तत्र वैरूपो बहवोऽप्येकरूपिणः ॥ ११९ ॥

सर्वज्ञत्वादिरूपेण सर्व एव शिवाः स्थिताः ।
व्यापकाश्च तथा सर्वे सर्व एवात्मसंविदः ॥ १२० ॥

एतस्यामप्यवस्थायां नामभेदो न विद्यते ।
हतं केनैकरूपत्वं सामान्येऽपि व्यवस्थिते ॥ १२१ ॥

शिवत्वे न विशेषोऽस्ति शावलेयादिवद्यथा ।
तासु व्यक्तिषु रूपादिसंनिवेशादिभेदतः ॥ १२२ ॥

वैलक्षण्यं गवादीनां न तथेहास्ति किंचन ।
मुक्तेषु निर्विशेषत्वात् केनैक्यं तत्र वार्यते ॥ १२३ ॥

युगपत्सर्वकार्याद्वा संमतत्वादमत्सरात् ।
तावता विश्वसम्पत्तेः सर्वज्ञत्वादचित्रता ॥ १२४ ॥

नानात्मभावे शैवे वा शैवे वाभेदवादिनि।
सर्वस्य सर्वरूपत्वं सर्वात्मत्वमवारितम् ॥ १२५ ॥

अनन्तशक्तियोगित्वादलुप्तत्वात् स्वशक्तिषु।
स्थितं शिवत्वं सर्वत्र विशेषाच्छैववादिनाम् ॥ १२६ ॥

एकत्वेन ततो ज्ञेया शिवता सर्वगोचरा ॥

इति श्रीशमदर्शनानतिरेकं नाम षष्ठमाह्निकम् ॥

अथ

सप्तममाह्निकम्

अथ स्थिते सर्वदिक्के शिवतत्त्वेऽधुनोच्यते ।
तस्मिञ्ज्ञातेऽथवाज्ञाते शिवत्वमनिवारितम् ।। १ ।।

वह्निर्ज्ञातोऽथवाज्ञातः प्रकाशं जनयेन्न किम् ।
अज्ञातं न सुवर्णं किं तदा किमुपलं भवेत् ।। २ ।।

सत्यमेवं तथापीह सुवर्णं ज्ञातमात्रकम् ।
मूल्यादिनोपभोगाय दानार्थमुपयुज्यते ।। ३ ।।

चिन्तामणिरविज्ञातो भवेच्चिन्तामणिः स्फुटम् ।
तथापि कार्यभोगार्थं स ज्ञातः केन वार्यते ।। ४ ।।

सकृज्ज्ञाते सुवर्णे हि भावना करणं व्रजेत् ।
एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः ।। ५ ।।

ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना ।
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा ।। ६ ।।

ज्ञातेऽपि तरुभूम्यादिदार्ढ्यान्न करणादिकम् ।
भूतले प्रत्ययं याति न भावः करणं न च ।। ७ ।।

तस्माच्छिवेऽप्यविज्ञाते ज्ञाते वा शिव एव ते ।
सर्व एवात एवैतद्भावनाकरणाच्च्युतम् ।। ८ ।।

विज्ञातं जायते पुंसा यद्यप्येवमवस्थितम् ।
तथापि चित्रकर्मार्थमुपायो वाच्य आदरात् ।। ९ ।।

तज्ज्ञानस्फुटताहेतौ चिन्तारत्नसुवर्णवत् ।
वह्निर्यद्यपि विज्ञातः प्रकाशादि करोत्यसौ ।। १० ।।

तथापि योजितो युक्त्या प्रकाशमधिकं गृहे ।
दीपेनान्यतमेनापि न तथा वह्निराशिना ।। ११ ।।

तस्मादुपायो वक्तव्यो दृष्टकार्यप्रसिद्धये ।
ततः स्वात्मक्रियौन्मुख्यमिच्छाप्रथमकोद्गमः ।। १२ ।।

समस्तचित्रकार्यान्तर्गर्भिणी शिबिकाकृतिः ।
स्वरूपाह्लादनिर्मुक्तिरहितेच्छोदयोद्गमः ॥ १३ ॥

शवला चितिरुच्येत परस्य पररूपिणी ।
सा शक्तिः परमेशस्य संस्थिता द्रव्यकर्मवत् ॥ १४ ॥

न द्रव्यव्यतिरिक्तास्ति क्रिया न च न विद्यते ।
न तयापि विना कार्यं किंचनापि हि जायते ॥ १५ ॥

न चापि केवलाद्द्रव्यात् किंचनापि प्रवर्तते ।
तस्मादित्थमिह ज्ञेयं शाक्तं रूपमभेदवत् ॥ १६ ॥

प्रथमोदय इच्छायाः सर्वभावैक्यदेश्यता ।
स एव शाक्तबोधात्मस्वच्छावयवरूपवान् ॥ १७ ॥

स्वानन्दैकरसाह्लादी स्वकार्यार्थशरीरवान् ।
तथास्थितस्य ध्यानेन बोधाद्वा तत्स्वरूपभाक् ॥ १८ ॥

तस्येच्छास्पन्दनं पूर्वन्यग्भावो ह्लादसंगमः ।
भूपभूपतिशक्त्याभमग्र्यं तत्पूर्णचिल्लयात् ॥ १९ ॥

याति व्याप्ति तथाभूतां शाम्यदामोदसत्क्रियाम् ।
शान्तानन्दवपुः स्वच्छ उररीकृतदृक्क्रियः ॥ २० ॥

मध्यव्योमशान्तबोधभरलब्धोदयः शिवः ।
तस्यापि विद्युदालोकवदभेदवती चला ॥ २१ ॥

भाविस्वभेदतत्कृत्यज्ञानप्रोन्मुख्यवर्तिनी ।
निजभावकृतसृष्टितदनुग्रहचेतना ॥ २२ ॥

भासतेऽवस्थिता शक्तिः शैवी शैवार्थदायिका ।
ततः सैव स्वयं बाह्यकार्यप्राक्कलनात्मिका ॥ २३ ॥

न्यग्भूतेच्छा ज्ञानमयी स्पन्दनावितताङ्गिनी ।
विद्यामन्त्रकलाकल्प्यदेहसंपिण्डितोद्भवा ॥ २४ ॥

तेजःकणप्रसरवदुपलभ्या वियत्यलम् ।
स्थितिः सादाशिवी चासावधिकाराभिमानता ॥ २५ ॥

समला तत्समाश्लेषात् सर्वेशित्वसमुद्गमः ।
तस्य शक्तिप्रदीपस्य किरणाभोद्यमप्रदा ॥ २६ ॥

ततः स्थूलैर्मन्त्रमयैरङ्गैः सर्वक्रियापरा ।
भवतीश्वररूपेण स्वकार्याखिलरूपिणी ॥ २७ ॥

तस्यापि शक्तिर्मूर्तिपिण्डघटवद्विश्वतां गतां ।
यावद्यावत्तरेद्विद्यामायादिघनपार्थिवम् ॥ २८ ॥

तत्त्वं देवस्तथा तावद्भावशक्त्या घटादिके ।
निजशक्तिसमाविष्टेरायान्ति शिवसम्पदः ॥ २९ ॥

क्रियाशक्तिपरात्मत्वे क्वचित्पिण्डशिवात्मता ।
क्वचिदन्तःकृतौ ज्ञानाद्भवेत्पदशिवात्मता ॥ ३० ॥

इच्छामात्रे रूपशिवस्तरंगे तदतीतता ।
कर्तृमात्रे सर्वभावव्यतीतशिवभावता ॥ ३१ ॥

दृढांगुलिनिवेशेन दृढस्थूलनिरीक्षणात् ।
भ्रमतो भावचलनात् प्लवाच्च प्रेक्षणाक्षतेः ॥ ३२ ॥

पुरोऽणुपुञ्जभ्रान्त्याप्त्या चित्त्वलाभो जडेष्वपि ।
सर्वचित्क्षेपतः साम्यात्सर्वत्रेच्छात्र ईदृशी ॥ ३३ ॥

प्रतीत्युद्गमकाले तु सार्वभाव्यादसौ विभुः ।
सृष्टानुभवदो रूढेरमूर्तज्ञानचिल्लयात् ॥ ३४ ॥

ज्ञानयोगसमुद्युक्तिलीनत्वेन क्रियागमः ।
इच्छातः कान्तितेजोभिस्तत्कर्तृत्वमहेशता ॥ ३५ ॥

संविद्देहतद्गतत्वे संवित्स्वातन्त्र्यमापतेत् ।
तोषे निर्वृतियोगो वा दार्ढ्यात् स्वातन्त्र्यमेतयोः ॥ ३६ ॥

दुःखासक्त्यान्यथासक्त्या सुखे निर्वृतिभूमिता ।
जडकायांगनिचये मद्दार्ढ्योचितचिन्तया ॥ ३७ ॥

जडाशेषपदार्थात्मरूढेस्तद्बोधपूर्णता ।
निजाभिमानसंसृष्टे स्वशरीरे महोदयात् ॥ ३८ ॥

अन्यदेहे तथावृत्तेस्तथा बुद्धिविशिष्टता ।
भावनातीतनिर्मूलसत्कार्यादिविसर्गवत् ॥ ३९ ॥

तत्तद्भावभरासक्तेस्तत्तन्निर्माणमानता ।
लसदग्रस्फुरत्तेजःकणसत्तोद्भवो महान् ॥ ४० ॥

देवताहेमनिर्माणसन्निधानस्फुटार्थताः ।
साम्मुख्यवृत्तिदेहान्तररतिरागमहागुणाः ॥ ४१ ॥

देहान्तरेषु संक्रान्तिः परित्यागोऽपरेष्वपि ।
अन्तर्मुखमुखाक्ष्यादिक्रमगोचरचिद्गतेः ॥ ४२ ॥

संस्पर्शतस्तदुद्बोध अन्यत्रापि तथा स्थितिः ।
स्वदेहे देवदृढतां नागादिदमनार्हता ॥ ४३ ॥

तथा सकलरूपाणां भावनैव तथा स्वयम् ।
निजान्तःसृष्टिबाह्यस्थस्थूलसन्निधियोगतः ॥ ४४ ॥

आत्मनो महिमा ज्ञेयस्ततः सृष्टेरनन्तता ।
स्थूलभावादविश्रान्तदृष्टिपातात्तदेकताम् ॥ ४५ ॥

प्रापितो जगदैक्यं च समन्तादवकल्पते ।
यत्र तत्रापि विश्रान्तिलीनं शक्तिचतुष्टये ॥ ४६ ॥

विश्वमेकस्वरूपेण रूपेण प्रतिपद्यते ।
शिवभावनयौषध्या बद्धे मनसि संसृतेः ॥ ४७ ॥

काष्ठकुड्यादिषु क्षिप्ते रसवच्छिवहेमता ।
तत्तत्तत्त्वबलावेशात् सर्ववस्त्वेकरूपिणम् ॥ ४८ ॥

स्थैर्येणाभावभावानामात्मानं निर्मिणोति सः ।
स्वशरीरे दृढा शक्तिः प्राप्ताक्ष्यादिविधेयताम् ॥ ४९ ॥
तद्वदन्यत्र भावादौ स्वात्मशक्त्या किलाधिपः ।
सर्वभावेषु सद्योगात्सत्यत्वे शिवता स्थिता ॥ ५० ॥

सर्वकामदुघा साध्वी शिवता प्रसरेन्नृणाम् ।
पदस्यार्थः पदार्थत्वमित्थमर्थव्यवस्थितौ ॥ ५१ ॥
यस्मात्पदार्थता तुल्या चित्ताभावोद्भवो मुहुः ।
सर्वत्र चित्ताभावेन सत्याकारतया स्थितेः ॥ ५२ ॥

सर्वत्रानुभवावस्थाप्रसरः सारतो भवेत् ।
सर्वस्यैव स्थिरं रूपं सर्वाकारतदात्मना ॥ ५३ ॥
सर्वाकारे महाकाररचना रुचिराचिरात् ।
सर्वत्रैक्ये स्थिरा रूढिर्जन्या रागादिनाहता ॥ ५४ ॥

सर्वस्य श्रेयसो नूनं सत्यान्निर्गतता मता ।
मूले समर्थतावेशो मध्ये तुल्यत्वमेतयोः ।। ५५ ।।

कार्यो मूलसमावेश इति ज्ञात्वा तथोदयः ।
सर्वामूर्तत्वतत्त्वास्थाबुद्धिदृष्टिप्रसक्तितः ।। ५६ ।।

सम्यगुत्पद्यतेऽन्तर्धिरूपणं भक्तिनिर्गतिः ।
मतिर्ममत्वनिर्माणमनसां महतां तराम् ।। ५७ ।।

प्रसरत्यस्ति विज्ञानं सर्वदिक्कमबाधितम ।
ममत्वमानसे साधु साधूनां सक्तिमागते ।। ५८ ।।

संकल्पप्रभवं सर्वं जगदेतदनन्तकम् ।
सर्वं ममेति निर्व्यूढे स्यात्तदेकमयो भवः ।। ५९ ।।

अभिमानात्तथैवैषां भावसर्गः प्रवर्तते ।
प्रत्येकदेवग्रामस्य ममताभिनिवेशतः ।। ६० ।।

दिव्यानि तान्ययत्नेन प्रसरन्ति समन्ततः ।
सामस्त्येन प्रसर्पन्तो निर्विशेषा हि केवलाः ।। ६१ ।।

सदा क्रीडावशादेव कामाः स्युः सर्वगोचराः ।
विशेषममतावेशप्रवेशवशतो महान् ।। ६२ ।।

तनुस्वरूपनिर्माणपरिमाणभवोदयः ।
शिवतत्त्वे त्रिधाभूते स्वच्छाकालकलाकले ।। ६३ ।।

सकले च समासक्तस्तत्तद्रूपोपरूपणम् ।
सामर्थ्येऽखंडसामर्थ्यं सतते ज्ञानवीर्यता ।। ६४ ।।

ईशे समग्रकर्तृत्वं सरस्वत्या मनूत्तमः ।
प्रमेये ममतावेशान्निर्मिणोति नवं जगत् ।। ६५ ।।

कलने चिद्घनत्वं स्याद्वेदने सर्वचिद्गमः ।
स्नेहे तु सर्वकामत्वं कालात्सर्वर्तुवर्तनम् ।। ६६ ।।

नियमे सर्वयमनं कैवल्यं प्रलयाकले ।
स्वात्मनो ह्यनिरुद्धार्था निरुपाधिविभूतिका ।। ६७ ।।

सर्वाकाराभिमानेन ममेतिदृढसक्तिना ।
सर्वाकारसमापत्तिरनन्तैवोपजायते ।। ६८ ।।

नैतच्छात्रं विना प्रोक्तं कायाकारेण कायिकम् ।
जलेन जलरूपं स्यादित्याद्यैर्वचनैः स्मृतम् ॥ ६९ ॥

सर्वव्याप्त्या स्नेहपूर्णं स्त्र्यादिकायात्मचिन्तनात् ।
जगद्विधेयतामेति किमुतैकशरीरकम् ॥ ७० ॥

सर्वमस्मीति रुचिरं रूपमात्मनि चिन्तयन् ।
अहमेव मत्परो न भवेदाकर्षणक्रमः ॥ ७१ ॥

सर्वस्मिन् मयि कस्यापि कार्यं ध्यानन् जुगुप्सितम् ।
ममैवासौ च विद्वेष्यो विद्विष्टो जायते ततः ॥ ७२ ॥

व्यापकत्वे शत्रुदेहं स्वं भ्रमन्तं विचिन्तयेत् ।
विद्रुतं करभारूढं विश्वमुच्चाटितं भवेत् ॥ ७३ ॥

व्याप्तौ किञ्चिद्रिपोर्देहं मदीयं संहराम्यहम् ।
जडरूपो भवामीति चिन्तया मरणं स्थितम् ॥ ७४ ॥

व्याप्तिदार्ढ्यं नक्तमेकं चन्द्रं वात्मानमुत्थितम् ।
विचिन्त्य प्रस्रवन्तं के कस्याप्याप्यायनं भवेत् ॥ ७५ ॥

चित्तत्त्वं चिन्तयन् रूपं व्यापकं वाखिलात्मसु ।
अविनाश्येकपिण्डे वा स भवेदजरामरः ॥ ७६ ॥

स्रवत्कृष्णामृतं मेघमात्मोपरि निजात्मकम् ।
ध्यायतो बालमात्मानं सा जरा संप्रलीयते ॥ ७७ ॥

ध्यानं नामात्र यत्सर्वं सर्वाकारेण लक्ष्यते ।
भावनाचक्षुषा साध्वी सा चिन्ता सर्वदर्शिनी ॥ ७८ ॥

येन येनेन्द्रियेणार्थो गृह्यते तत्र तत्र सा ।
शिवता लक्षिता सत्या तद्ध्यानमपि वर्ण्यते ॥ ७९ ॥

यस्यां यस्यां प्रतीतौ तु शिवोऽस्मीति मनोगमः ।
तस्यां तथैव चिन्तायां तद्ध्यानमपि जल्पितम् ॥ ८० ॥

यस्मिन्नर्थे सदात्यागो गच्छतस्तिष्ठतोऽपि वा ।
धावतः खादतो वापि स योगः परयोगिनः ॥ ८१ ॥

भाविते‌ऽभाविते वापि शिवत्वे शिवतैव मे ।
सर्वदा पितृमात्रादितौल्यदार्ढ्येन योगिता ॥ ८२ ॥

तथाहि कोशहेमादिसादृश्यं योगसत्यता ।
शिवोऽस्मीति मदिच्छातः सर्वभावप्रवर्तनम् ।। ८३ ।।
अत एव शिवः सर्वमिति योगोऽथ चेतसि ।
सन्ततं शक्तिसन्तानप्रसरेण सदैव मे ।। ८४ ।।

अनिरुद्धो जपोऽस्त्येव सर्वावस्थास्वसौ जपः ।
नानाकारैः सदा कुर्वन्नुदयन् सर्ववस्तुगः ।। ८५ ।।
अभ्यासेनास्मि सोऽप्यत्र जपः परम उच्यते ।
संकल्पाज्जनयन्नस्मि स्थितः शब्दानथो मुखे ।। ८६ ।।

सो हि नाम जपो ज्ञेयः सत्यादिस्त्रिविधो हि सः ।
न मे बन्धो न मे मोक्षस्तौ मलत्वेन संस्थितौ ।। ८७ ।।

प्रतिपत्त्यानया स्नानं निर्मलीकरणं मतम् ।
दुःखे वापि सुखे वापि सर्वासु प्रतिपत्तिषु ।। ८८ ।।

शिवोऽस्मीतिम नोह्लादो जलस्नानं परं मतम् ।
चिन्निर्मला तन्मयं हि जगदस्मि तथाविधः ।। ८९ ।।
इत्यास्थाजलशौचेन शुद्धिस्नानं तथोदितम् ।
सर्वभावाः शिवाकारा अन्तर्भूताः शिवानले ।। ९० ।।

सोऽहं शिवः सुतृप्तोऽस्मि होम इत्युदितः परः ।
अत्राकारे न यन्मेऽस्ति तदाकारान्तरेऽस्ति मे ।। ९१ ।।
तस्मादस्मि निराकांक्षस्तृप्त्यान्यो होम इदृशः ।
पूजनान्नास्ति मे तुष्टिर्नास्ति खेदो ह्यपूजनात् ।। ९२ ।।

पूजकैरविभेदेन सदा पूजेति पूजनम् ।
अत्राकारे च मे पूजा या स्यात् सादाशिवात्मनि ।। ९३ ।।

लिंगादिके पूजितोऽस्मि सदा पूजेति वा स्थिता ।
पूजकः पूजनं पूज्यमिति सर्वं शिवः स्थितः ।। ९४ ।।
किमेतेनात्मभावेन तृप्त्या वा परपूजनम् ।
सर्वाकारेषु भोग्येन यजनं मम वर्तते ।। ९५ ।।
भुञ्जेऽहं यत्र तत्रापि भोगलग्नः प्रतीतितः ।
शिवोऽस्मि साधनाविष्टः शिवोऽहं याजकोऽप्यहम् ।। ९६ ।।

शिव एवानया स्थित्या सत्यया याग उत्तमः ।
येन येन यत्र यत्र यैर्यैर्यदिह चेज्यते ।। ९७ ।।

स मया क्रियते यागः शिवत्वाद्याग उत्तमः ।
शिवं यामि शिवो यामि शिवेन शिवसाधनः ।। ९८ ।।

भिन्नोऽप्यभिन्न एवास्मि शिव इत्थं विचेष्टनम् ।
शिवो भोक्ता शिवो भोज्यं शिवेषु शिवसाधनः ।। ९९ ।।

भुक्त्वोदेति शिवावस्था स्थितेत्थं भोक्तृरूपता ।
शिवः कर्ता शिवः कर्म शिवोऽस्मि करणात्मकः ।। १०० ।।

शिव एव फलावस्था व्यापार इति साधुषु ।
भावनाकरणाभ्यां किं शिवस्य सततोदितेः ।। १०१ ।।

यथा तथा प्रतिष्ठामः प्रबुद्धस्येति वर्तनम् ।
यद्दृश्यं यच्च संस्पृश्यं यद्घ्रेयं रस्यमेव यत् ।। १०२ ।।

यच्छ्राव्यं तच्छिवव्यक्तेस्तच्छिवत्वेन संश्रितः ।
गम्ये ग्राह्ये तथा वाच्ये सुखादावपि सर्वदा ।। १०३ ।।

स्थिते शिवत्वे बद्धास्थो भवेत् सर्वगतः शिवः ।
मन्तव्ये चाभिमातव्ये बोद्धव्ये धृतिसंगमात् ।। १०४ ।।

सुखे दुःखे विमोहे च स्थितोऽहं परमः शिवः ।
प्रतिपादितमेतावत् सर्वमेव शिवात्मकम् ।। १०५ ।।

न स्वबुद्ध्या शिवो दाता शिवो भोक्तेति शास्त्रतः ।
इति कथितमशेषं शैवरूपेण विश्वं
जगदुदितमहेशांघ्र्याज्ञया स्वप्नभाजा ।
यदधिगमबलेन प्राप्य सम्यग्विकासं
भवति शिवमयात्मा सर्वभावेन सर्वः ।। १०६ ।।

शैवादीनि रहस्यानि पूर्वमासन्महात्मनाम् ।
ऋषीणां वक्त्रकुहरे तेष्वेवानुग्रहक्रिया ।। १०७ ।।

कलौ प्रवृत्ते यातेषु तेषु दुर्गमगोचरे ।
कलापिग्रामप्रमुखे समुच्छिन्ने च शासने ।। १०८ ।।

कैलासादौ भ्रमन् देवो मूर्त्या श्रीकंठरूपया ।
अनुग्रहायावतीर्णश्चोदयामास भूतले ।। १०९ ।।

नीन दुर्वाससं नाम भगवानूर्ध्वरेतसम् ।
नोच्छिद्येत यथा शास्त्रं रहस्यं कुरु तादृशम् ।। ११० ।।

ततः स भगवान् देवादादेशं प्राप्य यत्नवान् ।
ससर्ज मानसं पुत्रं त्र्यम्बकादित्यनामकम् ।। १११ ।।

तस्मिन् संक्रमयामास रहस्यानि समन्ततः ।
सोऽपि गत्वा गुहां सम्यक् त्र्यम्बकाख्यां ततः परम् ।। ११२ ।।

तन्नाम्ना चिह्नितं तत्र ससर्ज मनसा सुतम् ।
खमुत्पपात संसिद्धस्तत्पुत्रोऽपि तथा तथा ।। ११३ ।।

सिद्धस्तद्वत्सुतोत्पत्त्या सिद्धा एवं चतुर्दश ।
यावत्पञ्चदशः पुत्रः सर्वशास्त्रविशारदः ।। ११४ ।।

स कदाचिल्लोकयात्रामासीनः प्रेक्षते ततः ।
बहिर्मुखस्य तस्याथ ब्राह्मणी काचिदेव हि ।। ११५ ।।

रूपयौवनसौभाग्यबन्धुरा सा गता दृशम् ।
दृष्ट्वा तां लक्षणैर्युक्तां योग्यां कन्यामथात्मनः ।। ११६ ।।

सधर्मचारिणीं सम्यग्गत्वा तत्पितरं स्वयम् ।
अर्थयित्वा ब्राह्मणीं तामानयामास यत्नतः ।। ११७ ।।

ब्राह्मणेन विवाहेन ततो जातस्तथाविधः ।
तेन यः स च कालेन कश्मीरष्वागतो भ्रमन् ।। ११८ ।।

नाम्ना स संगमादित्यो वर्षादित्योऽपि तत्सुतः ।
तस्याप्यभूत् स भगवानरुणादित्यसंज्ञकः ।। ११९ ।।

आनन्दसंज्ञकस्तस्मादुद्बभूव तथाविधः ।
तस्मादस्मि समुद्भूतः सोमानन्दाख्य ईदृशः ।। १२० ।।
करोमि स्म प्रकरणं शिवदृष्टयभिधानकम् ।
एवमेषां त्र्यम्बकाख्या तेरम्बा देशभाषया ।। १२१ ।।

स्थिता शिष्यप्रशिष्याद्यैर्विस्तीर्णा मठिकोदिता ।
तदेवमेतद्विहितं मया प्रकरणं मनाक् ।। १२२ ।।

प्रार्थ्यन्तेऽस्मिन् प्रयुक्तेऽपि गुरवो ग्रहणं प्रति ।।

इति समाप्तिसंज्ञकं नाम सप्तममाह्निकम् ।।

परिग्रह क्र......
5333

294
SC
JACI